जन गीता

सन् १९५७-५८ में
रचित

बच्चन की अन्य रचनाएँ

१. आॅथेलो (अनुवाद)
२. बुद्ध और नाचघर
३. आरती और अंगारे
४. मैकबेथ (अनुवाद)
५. धार के इधर-उधर
६. प्रणय पत्रिका
७. मिलन यामिनी
८. सूत की माला
९. खादी के फूल
१०. हलाहल
११. बंगाल का काल
१२. सतरंगिनी
१३. आकुल अंतर
१४. एकान्त संगीत
१५. निशा निमंत्रण
१६. मधु कलश
१७. मधुबाला
१८. मधुशाला
१९. खैयाम की मधुशाला (अनुवाद)
२०. प्रारंभिक रचनाएँ—पहला भाग } कविताएँ
२१. प्रारंभिक रचनाएँ—दूसरा भाग } कविताएँ
२२. प्रारंभिक रचनाएँ—तीसरा भाग— कहानियाँ
२३. बच्चन के साथ क्षण भर (संचयन)
२४. सोपान (संकलन)

'मधुशाला' का अंग्रेज़ी, और 'बंगाल का काल' का बँगला अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं।

जन गीता

प्रतिध्वनिकार

बच्चन

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली



मूल्य : तीन रुपए (३·००)
प्रथम संस्करण : अगस्त, १६५८
प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
मुद्रक : युगान्तर प्रेस, दिल्ली

समपण

श्री स्वामी जी महाराज की
काष्ठ मौनावस्था में उनकी सेवा में रहनेवाले
श्री राम सनेही
तथा
उन सब लोगों को
जिन्होंने कभी, किसी प्रकार भी, उनकी सेवा की है।

मंगलाचरण

मेरे जीवन में एक विचित्र घटना घटी। जो आगे आया, उसके लिए न मैंने कभी प्रयत्न किया था, न उसकी प्रत्याशा की थी, और न उसके लिए तैयार ही था ; पर, कोई अज्ञात शक्ति, शायद बहुत दिनों से, मुझे उसकी ओर ले जा रही थी।

'है एक कहीं मंजिल जो मुझे बुलाती है।'

(मिलन यामिनी)

एकाएक मुझे कई कड़ियाँ याद हो आई हैं जिनके द्वारा मेरा परिचय रामनिवास से हुआ।

और रामनिवास ने मेरा परिचय ब्रह्मस्वरूप श्री स्वामी जी महाराज से कराया।

मैं उनके विचारों की सूक्ष्मता, भावों की गंभीरता, व्यवहार की आत्मीयता, और उनके तपोमय जीवन की पवित्रता से अभिभूत हो गया।

उन्होंने 'बच्चन दादा' कहकर मेरा स्वागत किया। मैं अभी मन ही मन आश्चर्य कर रहा था कि इस पूर्व अपरिचित के पास आते ही क्यों मुझे ऐसा लग रहा है जैसे मैं किसी अपने के पास आ गया हूँ कि उन्होंने कहा, "हम किसी पूर्व जन्म के संस्कार से मिले हैं।"

मैं अपने सहज अविश्वासी स्वभाव से पूछ बैठा, "क्या पुनर्जन्म होता है ?"

उन्होंने दृढ़ विश्वास से कहा, होता है, और कुछ सोचने-से लगे ; कुछ कहते भी रहे, पर मुझे लगा कि जैसे मैं क्षण भर को चेतना-शून्य हो गया और इतने में ही कई जन्मों के आवर्त में घूम आया। वे कह रहे थे, "इसमें आश्चर्य करने की क्या बात है ; जन्म तो इसी जन्म में कई बार होता है।"

मेरे साथ मेरी पत्नी भी उनसे मिलीं। उनसे बात करते हुए उन्होंने कहा, "तुम्हें मैं अपनी बहन बनाऊँगा", और फिर, मेरी ओर देखकर बोले, "पर तुम्हें बहनोई नहीं बनाऊँगा।"

मैंने उन्हें अपनी कुछ रचनाएँ भी सुनाईं, और जिस तन्मयता से उन्होंने मेरी कविताएँ सुनीं, उस तन्मयता से शायद आज तक किसीने मेरी कविताएँ नहीं सुनीं। 'मधुशाला' सुनकर उन्होंने कहा, "मैं तुम्हारे 'प्याला' को 'काला' करूँगा ; तुम्हारी मधु की 'धारा' को उलट दूँगा ; तुम्हारी मधुशाला में रम जाऊँगा।" अंत में कुछ सोचकर बोले, "तुम जो लिखते हो, उसका अर्थ तुम नहीं जानते।"

दूसरे दिन मैंने अपने दो कवि-बंधुओं के साथ उनके दर्शन किए। जिसने जो भी प्रश्न किया उसका उन्होंने सारगर्भित उत्तर दिया। विशेषकर उन्होंने यह बताया कि काष्ठ मौन क्या है। वे थोड़े दिनों बाद काष्ठ मौन लेनेवाले थे। बाद को एक ने मुझसे कहा कि स्वामी जी की चेतना इतनी सजग हो गई थी कि उसे सँभालना उनके लिए कठिन हो रहा था, बस उन्होंने अपने आत्म-बल से उसे तिनके की तरह त्याग दिया।

दो दिन में ही उन्होंने हमें ऐसी आत्मीयता में बाँध लिया था कि उनके आगामी काष्ठ मौन की कल्पना हमें विचलित करने लगी। कैसा लगेगा, जब वे न किसीसे बोलेंगे, न किसीकी ओर देखेंगे, न किसीको पहचानेंगे।

हमारी व्यग्रता का समाधान उन्होंने यों किया, "तब हम और ऊँचे स्तर पर मिलेंगे।"

दूसरी बार जब मैंने उनके दर्शन किए तो उन्होंने मुझे कुछ अध्यात्म की बातें बताईं। मैंने कहा, "महाराज, मैं तो आपके चरणों से आगे कुछ भी नहीं देख पाता।"

तुरत बोले, "तो यदि मेरे चरणों में कुछ होगा, तो तुम्हें आगे भी ले जाएँगे।"

उन्होंने मेरी शक्ति को नहीं, अपने चरणों को चुनौती दी। यह भी उनकी महानता के अनुरूप था। यह उनके अंतिम शब्द थे जो मेरे कानों में पड़े। इसके कुछ ही दिनों बाद उन्होंने काष्ठ मौन ले लिया।

काष्ठ मौन के पश्चात् जब मैंने उनके दर्शन किए तो मन में बड़ा क्षोभ हुआ, बड़ी निराशा हुई। जिस ऊँचे स्तर का आश्वासन उन्होंने दिया था, उसका कोई आभास मुझे नहीं मिला।

कुछ समय बीत गया। एक दिन ब्राह्म मुहूर्त में अध-सोया, अध-जागा-सा पड़ा हूँ। देखता हूँ स्वामी जी महाराज सामने खड़े हैं, चेहरे पर वही पहले की-सी आत्मीयता भरी मुसकान है। कह रहे हैं, "बच्चन दादा!"



मैं प्रसन्न हूँ।

फिर "बच्चन दा··दा !"

मैं और प्रसन्न हूँ।

फिर "बच्चन दऽ दऽ"—"बच्चन दो—दो !"

मैं स्तब्ध हूँ, यह अभिप्राय था आपका ?

"मेरा कोई दादा-दीदी नहीं है। मैं महा मँगता हूँ। मुझे दो—दो!"

"महाराज, आपको देने योग्य मेरे पास क्या है ?"

"बहुत है, योग्य भी है ; अयोग्य भी है ; मुझे सब दो ; मुझे अपनी प्रीति दो, प्रतीति दो, श्रद्धा दो ; अपना रोग, शोक, विकार, अपनी चिंता दो ; अपना अहं दो, अपने को दो। विषमता देखो, तुम देते हो, पर मेरे पास कुछ नहीं आता। मैं माँगता ही जाता हूँ। तुम्हारी पंक्ति उलट देता हूँ।

'भेंट न जिसमें मैं कुछ पाऊँ, पर तुम सब कुछ खोओ।'

(सतरंगिनी)

यही अमर दान है। मनुष्य न खाली हाथ आता है, न खाली हाथ जाता है ; उसे हाथ झाड़कर जाना चाहिए। मनुष्य के पास ऐसा कुछ भी नहीं जिसे देकर वह कुछ हलका न हो सके, कुछ मुक्त न हो सके। जो भी दे सको, दो। जो नहीं देता, उसका भार नहीं टलता, उसका बंधन नहीं कटता।"

"देना कोई सरल काम तो नहीं।"

" 'बचन दऽ' —'बचने का बचन दो'। मैंने कहा था, तुम्हें बहनोई नहीं बनाऊँगा। तुम हँस पड़े थे। मेरा अभिप्राय नहीं समझे थे। कबीर का कथन भूल गए ? मैं बहनोई, राम मोरा सारा-सहारा। मैंने बचन दिया था, तुम भी बचन दो। बचना, बचनेवाले और बचानेवाले दोनों के सहयोग से संभव होता है।"

"प्रयत्न करूँगा।"

"बचन दऽ"— "बचाने वाला बचन दो !"

"मैं तो जग-जीवन में डूबा हूँ, बचानेवाला बचन मैं कहाँ से दूँगा !"

"तुम जो लिखते हो, उसका अर्थ तुम नहीं जानते। यह मैंने तुम्हारा स्वभाव कहा है। यानी तुम उपकरण हो—शंख हो, वीणा हो ; फूँकने वाला, बजाने वाला दूसरा है। जो तुम स्वभाव से हो, उसके लिए सचेत रहो। तुम उपकरण मात्र बनो, बचानेवाला बचन तुमसे प्रतिध्वनित होगा।"

मेरी आँखें खुल गईं। कुछ दिन मैंने यह सोचने का प्रयत्न किया कि वह

बचानेवाला बचन क्या होगा। फिर जैसे किसीने मन में कहा, ऐसा करके तुम पूर्ण उपकरण बनने में बाधा डाल रहे हो।

कई महीने बीत गए।

एक दिन सहसा दस बरस पहले एक मित्र की कही हुई एक बात कानों में रह-रहकर गूँजने लगी। गजानंद ने मुझसे कहा था, "बच्चन, गीता को लोकप्रिय वाणी में कहो।" और मैंने फ़ौरन यह कहकर टाल दिया था, "यह मेरे वस की बात नहीं है।" पर अब, बात तो उनकी थी, पर स्वर स्वामी जी महाराज का था।

मैं सोचने लगा, क्या बचानेवाला बचन यही नहीं है। यही है, तो मेरे लिए यह काम कितना कठिन है!

'खो गईं नदियाँ जहाँ, तू खोजने आई किनारा।'

(आरती और अंगारे)

इस काम को उठाना मेरे लिए असंभव है, पर इस पुकार की उपेक्षा करना भी तो मेरे लिए असंभव है। इस संघर्ष में अनेक चमत्कारी अनुभव हुए, जिनसे प्रेरित होकर मैंने यह गीता-यज्ञ आरंभ किया। और वह जिस रूप में संपन्न हुआ है, मुझे लगता है, वह किसी अज्ञात शक्ति से निर्दिष्ट है। मैंने केवल उपकरण बने रहने का प्रयत्न किया है।

इस यज्ञ का सबसे अधिक मूल्य तेजी जी को देना पड़ा।

'जिस जगह यज्ञ होता, राक्षस आ ही जाते।'

(बुद्ध और नाचघर)

यज्ञ वही नहीं है जिसमें आग और आहुति हो; राक्षस वही नहीं, जिसके सिर पर सींग और जबड़े में बड़े-बड़े दाँत हों। मुझे गीता-यज्ञ में लगा देख, राक्षस एक दुरंत रोग के रूप में आया और उसने मेरी पत्नी पर आक्रमण किया। पर, प्रभु की कृपा से मैं उद्विग्न नहीं हुआ। स्वामी जी महाराज ने कहा था, 'अपनी चिंता मुझे दो।' मैंने अपनी चिंता उन्हें दे दी, और यज्ञ में लगा रहा। मेरा विश्वास है कि उन्होंने ही मेरी चिंता का शमन किया; राक्षस को परास्त किया। अब मेरी पत्नी स्वस्थ हैं और यज्ञ भी संपूर्ण हो गया है।

स्वामी जी महाराज ने कहा था, 'मेरे चरणों में कुछ होगा, तो वे तुम्हें आगे भी ले जाएँगे।' गीता को जन गीता का रूप देते हुए प्रतिक्षण मुझे अनुभव हुआ है कि उन्हींके चरण मेरे चरणों को खींच रहे हैं।

'खींचतीं तुम कौन ऐसे बंधनों से जो कि रुक सकता नहीं मैं।'

(मिलन यामिनी)

गीता के अधिकारियों से मेरी प्रार्थना है कि वे जन गीता की पंक्तियों को स्वामी जी महाराज की चरण-रेख समझकर स्वीकार करें। ये पंक्तियाँ जहाँ कहीं वक्र, कुंचित, अस्पष्ट अथवा खंडित जान पड़ें वहाँ यही समझा जाए कि मेरे दुर्बल चरण उनके दृढ़ चरणों का ठीक अनुसरण नहीं कर सके हैं।

प्रभु की प्रेरणा, बुद्धि की विमलता एवं हृदय की सद्भावना से जो सज्जन मेरी त्रुटियों की ओर संकेत करेंगे, उनपर मैं कृतज्ञता एवं विनम्रतापूर्वक विचार करूँगा।

अपनी अनुभूतियों की जो चर्चा मैंने यहाँ की है, वह स्वामी जी महाराज की प्रेरणा है, कि मौनावस्था का उच्चस्तरीय मिलन, कि मेरे अतिचेतन की एक झलक, कि मेरे अवचेतन की कोई झाँकी, कि मेरी कवि-कल्पना मात्र, इसे कौन बताए!

स्वामी जी महाराज बता सकते हैं, पर वे मौन हैं; मैं मुखर हूँ, पर मैं बता नहीं सकता।

'मेरी तो हर साँस मुखर है,
प्रिय, तेरे सब मौन सँदेसे!'

(प्रणय पत्रिका)

जन गीता रचते हुए मैंने एक विशेष सुख का अनुभव किया है। मेरी हार्दिक कामना है कि जो इसे पढ़ें, सुनें, सुनाएँ उन्हें भी वही सुख प्राप्त हो।

नई दिल्ली
१२-५-५८

—बच्चन

अनुक्रमणिका

जन गीता

जन गीता

का

सर्वप्रथम सस्वर संपूर्ण पाठ

श्री स्वामी जी महाराज के समक्ष

अठारह मई उन्नीस सौ अट्ठावन को

किया गया

पहिल अध्याय

दोहा

बंदि गजानन-लेखनी, ब्यास-बचन दोहराय,
करहुँ लेखनीबंद जन गीता मुक्ति-प्रदाय।
सुमिरि मौनधर जुग चरन, पद-पद मोर सहाय,
गावहुँ जन गीता सुखद, सुनहु, सुजान, सुखाय।
मातु-पिता-गुरु-चरन-रज पुनि-पुनि माथ चढ़ाय,
जग्य रचहुँ, सब नारि-नर सादर नेवति पठाय।
हाला-हालाहल दिहेउँ, हृदय-सिंधु तें काढ़ि,
बचनामृत अब देत हौं, कछुक न एहि तें बाढ़ि।

सोरठा

संजय कह ढिग जानि, दृगविहीन मुख नमित करि,
सुमिरि ब्यास-बरदान, बोलेउ कुरु-कुल-सूर अस—

चौपाई

"धर्मखेत, कुरुखेत, कहावा, जहँ कौरव-पांडव-दलु आवा;
काह करहिं तहँ दोउ समुदाई? संजय, मोहिं कहहु समुझाई।"
संजय, ब्यास-प्रसाद निहोरी, कुरु-पति सन बोलेउ कर जोरी,
पांडव-सेन समर-थल आई; ठाढ़ि भई, दृढ़ ब्यूह बनाई।
दुरजोधन देखा तेहि जाई; बोलेउ गुरु सन, सीसु नवाई,
"देखिअ, नाथ, पांडु-सुत-सेना, जाकर पारु न पावहिं नैना;
द्रुपद-पुत्र, तव सिष्य सुजाना; तेहिकर यह बड़ ब्यूह बिधाना।

देखिअ पांडु-सुवन बल-सींवा, जे न भए अब लौं नत-ग्रीवा;
अरजुन-भीम सरिस बहु बीरा, धनुष-गदा-धर, बज्र-सरीरा;
द्रुपद महारथ, रथि जुजुधाना, राट बिराट, महाभट नाना ।
देखिअ कासिराज बर बीरा; देखिअ धृष्टकेतु रनधीरा,
पुरुजित, कुंतिभोज रनबंका, सिबि-नर-पुंगव सैब्य निसंका ।
देखिअ चेकितान बलवाना, उत्तमौज ऊर्जस्व - निधाना,
जुधामन्नु, अभिमन्नु लरंता, जिन्ह सम कम रन धीर-धरंता;
पंचाली-सुत पंच जुबाना, जिन्हकर बर-पौरुष पहिचाना ।

दोहा

पांडु-पुत्र-दलु देखि कै, देखिअ मम दलु आय,
बरनउँ बीर स्वपच्छ कें, नाउँ बताय - बताय ।

चौपाई

गुरुवर आपु, भीष्म बलवंता, कृपाचार्ज संग्राम - जयंता,
सोमदत्त - सुत, अस्वत्थामा, कर्न, बिकर्न महा बलधामा,
सूर असंख्यक, मम हित लागी, समरारूढ़ मरन-भय त्यागी ।
अस्त्र-सस्त्र-संजुत सब सूरा, जुद्ध-बिसारद, साहसपूरा ।
भीष्म करहिं जेहि दल रखवारी, जीति को सक तेहि नर-तन-धारी;
भीम करइ जेहि दल अगुआई, मर्दब ताहि न बड़ि कठिनाई;
अस जियँ जानि अटल बलधारी, सभ मिलि करेहु भीष्म रखवारी ।"
कुरुबर-बानि सकल दल ब्यापी; पुलकि उठेउ कुरु-बृद्ध प्रतापी;
सिंघनाद सम संख बजावा, सुनि दुरजोधन-मन सुखु पावा ।
पुनि बहु संख बजे एक संगा, भेरि, नफीरि, नृसिंघ, मृदंगा;
सहस निसान हने घनघोरा; दिग-दिगंत कंपेउ सुनि सोरा ।
बिसद तुरग-स्यंदन असवारा, पार्थ महारथ, नंद - कुमारा,
आपुनु-आपुनु संख बजावा; सब्द खमंडल, जल, थल छावा ।

दोहा

पांचजन्य, हरि; देवदतु फूँकेउ पार्थ निसंक;
भीमसेन फूँकेउ निडर पौंड्र नाम कर संख।

चौपाई

नामु अनंतबिजय जेहि पावा, धर्मराज सोइ संख बजावा;
नकुल सुघोष सुघोषु बजावा; मनिपुष्पकु सहदेव सुनावा।
कासिराज बरबीर, सिखंडी, सात्यकि, जाहि बरे रन-चंडी,
धृष्टदुम्न, तन-रिष्ट बिराटा, द्रुपद, सुखद जेहि रन कर ठाटा,
महाबाहु सौभद्र सुजाना, पंच पंचपति - पुत्र जुबाना,
दीप-दीप अवनी-पति नाना, दीन्हेउ निज - निज संख प्रमाना।
संख - निनाद भयंकर भारी गूँजेउ अंबर-अवनि मझारी;
सुनि पांडव-दल-सोरु अपारा, कौरव - दल - उर परेउ दरारा।
देखेउ पार्थ स्वपच्छ-उछाहा, लीन्हेउ कर धनु-सर, नरनाहा,
बोलेउ हरि सनमुख सिरु नाई, "सारथि - कर्म - निरत जदुराई,
होइहि परम अनुग्रह तोरा, दुहुँ दल बीच करिअ रथ मोरा;
देखन चहउँ समर-भट-जूथा, रन - उनमत्त अराति-बरूथा;
तिन्हहि जे सठ दुरजोधन संगा, आए आजु करन रन रंगा;
तिन्हहि जिन्हहि नहिं तन कर लोभा, जिन्हसन भिरत्र सुभट कै सोभा।"

दोहा

गुडाकेस कै बिनय सुनि, हृषीकेस हरषाय,
सुरथ हाँकि दुहुँ सेन बिच दीन्हेउ तुरत लगाय।

चौपाई

कहेउ, "बिलोकहु कुरु-दल-जोधा, भीष्म, द्रोन, कुरु-बंस-पुरोधा,
देस-देस नर - पति - समुदाई, जे करिहहिं कुरु-पच्छ सहाई।" ६०
अरजुन सीस उठाय बिलोका, दीठि घुमाय-घुमाय बिलोका;
गुरुजन ठाढ़, पितामह ठाढ़े, दुहुँ दल मध्य सुहृद अति गाढ़े;
पितु जस बड़ बहु परिजन छाजे; मातुल, ससुर, सुबंधु बिराजे।
पुत्र - प्रपुत्र, अनेक जुझारा, हाथ धरे धनु-बान, कुठारा।

लाग समरु अस जड़परिवारा, करइ जो निज बल निज संघारा;
मरब कि मारब सबकर हेतू जानि, गलानि-गरेउ कपिकेतू।
पुनि हरि - चरन गहेउ अकुलाई, "सुनिअ वचन मम, जदु-कुल-राई,
सनमुख देखि स्वजन - समुदाई, सुभट, जिन्हहि प्रिय लोह-लराई,
अंग - अंग टूटइ मम, ताता; सूखइ मुँह, कहि जाइ न बाता;
कंप-पुलकमय होय सरीरा; लोचन पुनि-पुनि मोचहिं नीरा;
जाइ न मोसन चाप उठावा; जाइ न तापर बान चढ़ावा।

दोहा

देह दहइ, श्रम-कन बहइ, निकसइ उमसि उसास,
लागइ मोहि महि डगमगइ, लागइ भ्रमइ अकास।

चौपाई

देखि असुभ लच्छन चहुँ ओरा, रन समुहत सकुचत मन मोरा;
संगर मध्य स्वजन संघारें, होए न मंगल मोर, मुरारे।
रंच न मोहिं बिजय कर मोहू, चहउँ न राज, न सुख-संदोहू;
काह करब लेइ संपति नाना? मोकहुँ भार भए निज प्राना।
राज - साज, सुख, संपति, भोगू, प्रियजन लागि सँजोवहिं लोगू;
तेइ प्रियजन धन - जीवन - आसा त्यागि, बिराजत रन चहुँ पासा;
गुरुजन ठाढ़, पितामह ठाढ़े, अरि-दल मध्य सुहृद अति गाढ़े;
पितु जस बड़ बहु परिजन छाजे; मातुल, ससुर, ससुर-सुत राजे;
पुत्र - प्रपुत्र जुरे, जदुराई; इन्हकर मोह तजा नहिं जाई।
प्रियजन मोहिं बधैं बरिआई, तदपि सकहुँ नहिं सस्त्र उठाई;
राज्य लागि प्रियजन-बध! सोकू! मारि तिन्हहि नहिं चहउँ तिलोकू।
लाभु कवन कुरु - सुत संघारें? पापु चढ़िहि बरु पापिन्हि मारें;
पुनि कुरु-सुत मम बंधु समाना; बंधु बधें कब केहि सुखु जाना?

दोहा

मधुसूदन, इन्हकहँ ग्रसे काम, क्रोध, मद, लोभु,
मित्र-द्रोह, कुल-छय करत इन्हकें हृदयँ न छोभु।

चौपाई

मोहिं सोचु बड़, ग्यान-गोसाईं, इन्ह सम हमहुँ करहिं जड़ताई ;
हमहि न कुल-छय-दोसु अजाना; हमहि उचित अस करैं बिधाना ,
आगि जो कुरु-सुत-कुमति प्रजारी, बाढ़ि बनै नहिं दुसह दवारी ,
जामहुँ दोउ कुल परैं जुझारा, होयँ निमिष महुँ जरि-बरि छारा।
कुल-छय तें कुल-धर्म नसाईं; कुल-धर्महि कर कुल-कुसलाई ;
लोपें धर्म, अधर्म खराईं, कोपि करइ बहु बिधि अधमाई ।
बढ़इ अधर्म जबहिं, दनुजारी, कुलटा-कर्म करहिं कुल-नारी ;
कुलटा नारि तें, जदु-कुल-राई, होहिं बरन संकर बहुताई ।
जनमि बरन संकर कुल माहीं, करत अमंगल नाहिं अघाहीं ;
कुल, कुल - घालक दोउन हेतू बिरचहिं बेगि नरक कर सेतू ।
इन्हसन पितर न पावहिं पानी, रौरव परहिं, जरहिं, दुखु मानी ;
बाढ़ि बरन संकर उतपाती, बनि कुल-दूषन, कुल-संघाती , १००
जाति-धर्म, कुल-धर्म नसावहिं, बासु अनंत नरक महुँ पावहिं ।
धिग, हम आजु राज्य-सुख लागी, होहिं कुदोष-कुपातक-भागी !
स्वारथ लाइ स्वजन संघारें, होइहि बड़ उर-दाह, मुरारे ।
जौं मोकहुँ कुरु-सुत अग्यानी, जुद्ध-बिमुख, बिनु आयुध जानी,
छेदें बेधि करैं बिनु प्राना, तौहुँ मोर होइहि कल्याना । ”

दोहा

अरजुन कहि अस कृष्न सन, सोक-बिकल, धुनि माथ,
सर-धनु तजि, रथ-पृष्ठ महुँ बैठेउ, कुरु - कुल - नाथ । १०७

●

दूसर अध्याय

दोहा

देखि पार्थ अति खिन्न-मन, आर्त-बचन, मुख-म्लान,
मोह - ग्रसित, संसय-भ्रमित, बोलेउ श्री भगवान—

चौपाई

"अरजुन, मोर बचन करु काना, तजु मन - मोह - जनित अग्याना;
आर्ज न धारहिं असि जड़ताई; जे नर करहिं समर कदराई,
समुझु, मुएँ नहिं स्वर्ग सिधाहीं; जिअत न पावहिं जसु जग माहीं।
छोरु गलानि, छोभु, परितापू, छुद्र हृदय कर छुद्र प्रलापू।
तोर नाउँ सुनि सत्रु सँकाई; सोह न तोहिं नपुंसकताई।"
सुनि अरजुन बोलेउ कर जोरी, "अरज सुनिअ मम, तात, बहोरी;
द्रोन - भीष्म गुरु - पूज्य हमारे, इन्हपर केहि विधि, कृष्न मुरारे,
होइहि मोसन सर - संधाना, मोहिं बुझाइअ, सील - सुजाना।
भीखिनि पेट भरब बरु, ताता, जिअत करब नहिं गुरु-संघाता;
भोगब गुरुजन मारि जो भोगू, भीखि तें भल किमि कहिहहिं लोगू?
गुरुजन - रुधिर - सरन्ह सब ताईं, आइहि मोहिं, दयानिधि साईं।
पुनि, सरबग्य, बिदित यहु नाहीं, जीति कि हारि बदी रन माहीं।
असमंजस अस मति अपहरई, का करनीय, समुझि नहिं परई।
मारि जिन्हहि हम जिअन न चहहीं, तेइ कुरु-सुत रन सनमुख अहहीं;
सूझि परइ नहिं मोहि निज धरमू, सूझइ उचित न अनुचित करमू।
मोहिं सुनिस्चित पंथ देखाई, मेटिअ मम चित - अस्थिरताई;

समुझिअ जेहि बिधि मम कल्याना, सोइ बताइअ, ग्यान - निधाना ।
सिखइअ मोहि, सिख आपुनु जानी, आयउँ सरन, अभय - बर - दानी ।
नाथ, अकंटक राज रजाई, सुख, संपति, सुरपति - पद पाई,
देखउँ एकउ अंग उपाऊ अस नहिं जेहिं मन-ताप नसाऊ ।"

दोहा

हरि सनमुख असि अरज करि, अरजुन कुरु-कुल-राय,
'समर न करब', पुकारि पुनि बैठेउ अति सचुपाय ।

सोरठा

पाइ पार्थ हतग्यान, बिचलित-अंतर, सिथिल-तन,
बोलेउ श्री भगवान ग्यान-प्रकास-करन बचन—

चौपाई

"सोचनीय नहिं जे जग माहीं, तिन्हकर सोच किएँ हित नाहीं ;
तिन्हहि लागि तुम्ह गाल बजाई, प्रगट करहु आपनि हरुआई ।
अहहिं, गए जे - दोउन हेतू बादि न बिलपहिं बुध, कपिकेतू ;
कब न रहे हम, तुम्ह, नृप भारी? कब न रहब सब सृष्टि मझारी ?
जेहि बिधि जीव सरीर समाई, जानइ बालपना, तरुनाई,
गलित - पलित, सित-केस बुढ़ाई, तेहि बिधि जानइ देह-बिदाई ,
नूतन तन महँ पुनः प्रबेसा, पार करब पुनि काल-प्रदेसा ।
अरजुन, जीवन-गति असि जानी, होहिं न मोह-ग्रसित बिग्यानी ;
आतप - हिम तन दहइ - जुड़ाई जस, तस मन सुख-दुख समुहाई,
उमहइ हर्ष, विषाद सुखाई; सुख, दुख रितु सम आवइ, जाई ।
इन्हकर प्रकृति - प्रगति पहिचानी, पार्थ, सहहु निज कहुँ थिर मानी ;
जिन्हकहँ सुख - दुख एकु समाना, हर्ष - विषाद - बिभेदु अजाना,
सुस्थिरचित, अरजुन, तेइ प्रानी; मुक्ति मिलइ तिन्हकह कल्यानी ।

दोहा

आहि जो, होइ सो नाहिं नहिं; नाहिं जो, आहि न होइ;
आहि - नाहिं महँ भेद कहँ ? बूझहिं बुध कोइ - कोइ ।

चौपाई

अरजुन, जानहु तेहि अबिनासी, जो अबिचल अग-जग-अधिबासी,
जामहुँ अग-जग करइ निवासा; कोउ करि सकइ न जाकर नासा।
नष्ट होइ तन काल - प्रहारा, जीव धरइ जेहि बारहिं बारा ;
जीव न जानइ काल - प्रहारा, बिनसब, जनमब, काय-बिकारा;
जीव न उपजइ, बिनसइ काऊ, जीव रहइ नित एक सुभाऊ ;
जीव - मरमु नहिं समुझहिं ग्याता; अस जियँ जानि, करहु रन, ताता।
जीवहिं मरनि कि मारनिहारा मानहिं जे मतिमंद गँवारा,
ते नहिं जानहिं जीव-सुभाऊ; जीव न मरइ न मारइ काऊ।
अज, नित, सास्वत जीव पुराना, सोइ जाना तेहि, जो अस जाना;
जीव न जनमइ, मुअइ न काऊ; होइ पुनि होब न जीव-सुभाऊ;
अस जियँ जानि, करहु रन, ताता; जीव न बिनसइ बिनसें गाता।
जे नर जीवहिं सास्वत मानहिं, अजनित, अब्यय, अच्छय जानहिं,
केहि बिधि, केहि पर करहिं प्रहारा? केहि बिधि केहि कर करहिं सँघारा ?

दोहा

नर, परिहरि जिमि जून पट, पहिरहिं नव परिधान,
जीव धरइ तिमि नवल तन, त्यागि सरीर पुरान।
जीव न पावक जारि सक, भेइ सकइ नहिं नीर,
सोखि न सकइ समीर तेहि, छेदि सकइ नहिं तीर।

चौपाई

जीव खरग सन काटि न जाई, बाउ सकइ नहिं ताहि सुखाई,
ताहि भिगोइ सकइ नहिं पानी, आगि न जारइ, जानहिं ग्यानी। ६०
जीव नित्य, थिर, अचल-सुभावा, जीव सनातन तें चलि आवा;
अस दिसि-काल कल्पि नहिं जाहीं, जिन्हमहँ जीव सहजगति नाहीं।
इंद्रिन्ह - मन कें विषय बहूता, जीव सबन्ह सन रहइ अछूता;
जीवहिं कबहुँ न छुअहिं बिकारा; तजहु, समुझि अस, हृदय-खभारा।
अरु, अरजुन, जदि तोर बिचारा, जीव मरइ - जनमइ प्रति बारा,

तदपि उचित नहिं तोर प्रलापा, सोचु, गलानि, छोभु, परितापा ।
अवसि मरइ जो जनमइ, ताता, मरइ सो जनमइ, जानहिं ग्याता;
अटल मरन - जीवन कर साथा, कस तब सोचु करसि धुनि माथा ?
बिनु जाएँ, बिनु तन सब प्रानी; रहइ मुएँ नहिं देह गुमानी;
बीचहिं खेह करइ खेलवारा; सोचु न करु, करु कछुक बिचारा ।
जीव लखइ कोउ अचरजु मानी; जीव कहइ कोउ अचिरिजु बानी;
कोउ आचरजु करइ सुनि काना; सुनेहुँ रहइ कोउ-कोउ अनजाना ।

दोहा

जीव जो तन-तन महुँ बसइ, मारि कबहुँ नहिं जाय;
ताकर मरन बिसूरि मन, रोवइ तोरि बलाय ।

चौपाई

जन्म तोर छत्रिय कुल माहीं; भय-छत्रिय दोउ संग न जाहीं;
छत्रिय - वृत्ति सदा चलि आई, धर्म हेतु जब होइ लराई,
कूदि परइ तन - मोह बिसारी; तोहि सोइ कर्म परम हितकारी ।
छत्रिन्हि अस रन सरग-दुआरा, जेहि पावहिं बड़भाग जुझारा;
तोकहुँ खुलेउ सो आपुहि आपा, तोहि कस असमय संसय ब्यापा ?
धर्म-समर तें, पार्थ पराई, त्यागि स्वधर्म, सुकीर्ति गँवाई,
जनि बनु दूषन - पातक - भागी; रन करु धर्म - सुकीरति लागी ।
न त अपकीर्ति रहिहि छिति छाई; कटिहि कलंक न कोटि उपाई;
जसवंतन्ह कहँ, सुनु, जग माहीं, मीचु भली, अपजसु भल नाहीं ।
तोकहुँ का कहिहहिं बलवाना, तैं रन तें भय मानि भगाना;
देत रहे जे तोरि दोहाई, दर-दर करिहहिं तोरि बुराई ।
तोरें बल, बिक्रम, बिस्वासा, कर अरि तोर करिहि उपहासा;
रिपु कें बिग्य बचन सुनि काना, होइहि दुख तोहि मरन समाना ।

दोहा

जुद्ध मुएँ होइहि सुलभ तोहि सरग, रन जीति
छिति भोगिहि तैं ; करु समरु, मन धरि असि परतीति ।

चौपाई

पार्थ, पराजय जिमि जय मानी, हानि-लाभु, दुखु-सुखु सम जानी,
जुद्ध करिहि तौ कबहुँ न तापा, होइहि तोहिं, न लागिहि पापा।
तोहिं सुनायउँ सांख्य बिचारा; अब सुनु जोग-निहित उदगारा;
जदि तव बुद्धि करिहि स्वीकारा, छूटिहि तव भव-बंधन सारा।
एहि पथ चलत न बहु कठिनाई, तातें तोहिं कहहुँ समुझाई;
फलप्रद प्रति पद एहिपर साधा, बीच परइ नहिं कवनिउँ बाधा;
कीन्हें स्वल्पहु धर्म - प्रयासा, काटि सकइ नर बड़ भय-पासा।
जे नर निस्चित - बुद्धि - बिबेका, पंथ सुनिस्चित जानहिं एका;
जे चंचल - मति, मोह - बिमूढ़ा, होहिं बिबिध बिधि पथ आरूढ़ा।
इन्हकें मन बस अस अभिमाना, निज पथ सम पथ गुनहिं न आना।
कोउ सनमानइ बेद - बिधाना, काम - दाम कोउ ध्यावइ नाना; १००
कोउ करइ ब्रत - संजम - नेमा, होय बिपुल आयुर्बल, छेमा;
कोउ करइ अस जप-तप-जागा, मिले जनम पुनि सुकुल सुभागा;
कोउ करइ असि जुगुति, उपाई, रहै सरग महुँ जग तें जाई;
ए बोलहिं निज बात बढ़ाई, कलित-ललित सुर-सब्द सजाई।

सोरठा

जिन्हकें प्रिय कामार्थ, हियँ धारहिं तेइ बचन अस,
कान करहिं नहिं, पार्थ, निस्चित-बुद्धि, बिबेक-मति।

चौपाई

अरजुन, चारिउ बेद बिधाना, तीनि गुनन्ह कर करहिं बखाना;
तम, रज, सत गत रिद्धि गिनाई, कहहिं सँजोइ-जोगइ जिमि जाई;
त्रिगुन-रहित होइ द्वंद-बिहीना, रहु तैं नित्य सत्य लयलीना।
अरजुन, मान-सरोवर पाई, बापी-कूप निकट को जाई?
ओस कहाँ, कहँ पावस पानी! बेद न चाटहिं ब्रह्मग्यानी।
करमहि पर बस तोर बसाऊ, फल पर तोहि अधिकार न काऊ;

छोरु कर्म - फल - मोह, सुकर्मा, छोरु न कर्म, न छोरु स्वधर्मा।
मोह बिहाइ, करमु अपनाई, सिद्धि - असिद्धि - विभेद भुलाई,
अरजुन, जीवन जापइ जोई, तेहि जोगस्थ कहहिं सब कोई;
रहि जोगस्थ समरु करु जाई, जोग सुथिरताई - समताई।
जोग-बुद्धि-निधि जिन्हकें पाहीं, फल हित कर्म करत सकुचाहीं;
रोपि कर्म, फलु - आस लगाई, प्रगटहिं नर निज मति कृपनाई;
जोग - सरन गहु, आरत - बानी, सब कहुँ जोग अभय-बर-दानी।

दोहा

जोग-बुद्धि एहि लोक महुँ, पुन्य-पाप फल-भोग,
त्यागि सकइ, तातें कुसल करमी साधहिं जोग। १२०

चौपाई

जोग साधि, सम बुद्धि जगाई, कर्म - जनित फल-मोह भगाई,
जन्म - निहित भव-बंधन टारी, होहिं ब्रह्म - पद के अधिकारी।
अरजुन, मोह भँवर सम आही, जामहुँ परि बहु नर बहि जाहीं;
जोग - तरनि जो होइ सवारा, करइ समस्थिर चित पतवारा,
सोइ गिरदाब गहिर करि पारा, पावइ ब्रह्मग्यान किनारा।
पंडित - उक्ति, पुरोहित - पोथी, ब्रह्मग्यानिहिं लागहिं थोथी;
बहु पोथी, बहु पंथ बिगोई मति जब तोरि अडिग-थिर होई,
लागिहि अबिचल ब्रह्म-समाधी, तब पाइहि जोगस्थ उपाधी।"
कृष्न-बचन सुनि, कुरु-कुल-स्वामी, पार्थ पुकारेउ, , "नाथ, नमामी !
थिरमति जोगस्थित को अहई ? केहि बिधि बोलइ, डोलइ, रहई ?"
पार्थ प्रस्न सुनि, जदु-कुल-राई, बोलेउ ग्यान-गिरा मुसुकाई,
"जो मनगत अभिमत-समुदाई, रोकि, हटाइ, मिटाइ, बिहाई,
आपु आपु महुँ रहइ समाई, सोइ पावइ चित - सुस्थिरताई।
अरजुन, सुनु, सुस्थिर-मति रीती, दुख सन खुनिस न सुख सन प्रीती;
दैन्य न हारेहुँ, दंभ न जीती, - रंच न राग, न रोष, न भीती।

दोहा

बाँधत नहिं थिर-बुद्धि कहुँ कबहुँ मोह कर पास,
हुलसित करत न सुभ कबहुँ, असुभ न करत उदास।

चौपाई

जिमि कच्छपु सब अंग सकोरी, छन महुँ लेइ उदर सन जोरी,
तिमि इंद्रिन्हि बिषयन्ह तें मोरी, देइ सुथिर-मति निज महुँ बोरी। १४०
अरजुन, बिषयन्ह तें मुख मोरें, मोह न तिन्हकर छूटइ भोरें;
बिषयन्ह-मोह तजइ नर सोई, ब्रह्म - भगति अपनावइ जोई।
इंद्रिय, पार्थ, प्रबल अति आहीं, केहु सन सहज न बस करि जाहीं;
बिग्य करहिं जे जतन बहूता, होहिं बिबस तिन्हतें अभिभूता।
तिन्हतें उबरहिं तेइ बड़भागी, जे तिन्हकहुँ संजम सन त्यागी,
सम-सुस्थिरचित ध्यावहिं मोहीं; मोह-बिषय बस बहुरि न होहीं।
जब नर इंद्रिन्ह-बिषयन्हि ध्यावहिं, मन महुँ राग बिपम उपजावहिं;
राग जनइ अभिमत बहु भाँती; अभिमत रोप जनइ उतपाती;
रोप जनइ संमोह बिकारा; मोह करइ मति-भ्रम बिस्तारा;
करइ मतिभ्रम बुद्धि बिनासा; बुद्धि नसें बिनसइ सब आसा।

सोरठा

होइ संजम-संजुक्त, इंद्रियगत करतब्य करि,
राग-द्वेष तें मुक्त, सांति लहइ नर बिस्व महुँ।

चौपाई

सांति करइ सब दुख कर नासा; दुख बिनसें आनंद प्रकासा;
आनँद अंतर माझ समाई, देइ तुरित चित-सुस्थिरताई।
सजम बिनु बुधि थिर नहिं होई, मन महुँ जागइ भाव न सोई,
जामहुँ ब्रह्म करइ अधिबासा, ब्रह्म बरे बिनु सांति दुरासा;
अरजुन, सांति न जानइ जोई, सुख सन ताकरि भेंट न होई।
इंद्रियगत करतब्य निबाहत, जो तिन्हकें सँग मनहुँ लगावत,

दूरि करत चित-सुस्थिरताई, देत पवन जिमि नाव बहाई।
इंद्रियगत करतब्य निबाहत, जो मन पर अंकुस रखि पावन, १६०
ताकरि थिर मति, पार्थ प्रतापी, डिगत न बिनसन कतहुँ, कदापी।
जेहि जामिनि सबु सोवनिहारा, जागइ जोगी जोग सम्हारा;
जेहि जामिनि जगु जागनिहारा, जोगी सोइ करइ भिनुसारा।
दिसि-दिसि उमगि नदी जिमि धाई, अंबुधि महुँ प्रबिसहिं अमहाई,
किंतु समुद्र न चलइ तोराई, अरजुन, तिमि अभिमत-समुदाई
सुस्थिर चित महुँ करहिं प्रबेसा, किंतु न बिचलहिं तेहि लवलेसा;
सांति लहइ सोइ सांत-सुभाऊ; अभिमत-मत्त लहइ नहिं काऊ।
छोरइ जो अभिमत - समुदाई, तोरइ ममता - मोह - सगाई,
आनइ नहिं मन महुँ अभिमाना, रहइ सदा सो सांति-समाना।

दोहा

असि ब्रह्मस्थिति पाइ नर, अमित कबहुँ नहिं होय;
अंतहुँ पावइ ब्रह्म-पद, ब्रह्मस्थिति महुँ सोय।" १७१



तीसर अध्याय

दोहा

सुस्थिरमति-लच्छन-रहनि, एहि विधि, कुरु-कुल-नाथ,
हरि-मुख सुनि, अरजुन बहुरि बोलेउ होइ नतमाथ—

चौपाई

"मानहुँ, नाथ, अनुग्रह तोरा, पै नहिं गत-संसय मन मोरा;
जौं राउर मत ग्यान प्रधाना, कर्म सुहृद कत मोर बखाना ?
मोहिं भयंकर काजु लगाई, का भल देखहु, जदु-कुल-राई ?
सुनि तव गूढ़ वचन, भगवाना, भै मति मोरि भ्रमित हत-ग्याना;
एक सुनिस्चित पंथ देखाई, दूरि करहु दुबिधा दुखदाई।"
अरजुन-जिग्यासा हरि जानी, बोलेउ सुचि, संसयहर बानी,
"एहि जग महुँ दुइ मग विख्याता, जिन्हकर लच्छ मोर पद, ताता;
सांख्य पंथ अपनावहिं ग्यानी; जोग, लोग जे कर्म - प्रधानी।
जो न कर्म कर करइ अरंभा, कर्म - बिरति कर करै न दंभा;
कर्म तजइ जो, सोउ नहिं काऊ, कहै, कटेउ सब कर्म-प्रभाऊ।
जो जग महुँ मानुष तन धरई, कर्म प्रकृतिगत परबस करई;
एकहु छनु अस बीतत नाहीं, कर्म-निरत नहिं नर जेहि माहीं।
इंद्रिय-बिषय बराय जे मूढ़ा, मोह करहिं मन पर आरूढ़ा,
संन्यासी-पद तिन्हहि न सोहा, बिषय तें अधिक बिषय कर मोहा।

सोरठा

मन तें मोह उतारि, इंद्रियगत करतब्य करि,
सुस्थिरता चित धारि, जोग बनहिं नर जोग बिधि।

चौपाई

अरजुन, जन्म-नियत करु करमू, एहि विधि पालन करु निज धरमू;
क़र्म - विमुख तें कर्म - करंता भल, अनुमानहिं सब मतिमंता। २०
कर्म-बिमुख, जग-जाहिर एहा, चलइ न जीवन-पथ पर देहा;
कर्म बनइ नर-बंधन सोई, जग्ग लच्छ नहिं जाकर होई;
जो कृति राग-रहित करि जाई, सोइ जग्य, सोइ जोग कहाई।
आदि सृष्टि, जब रचेउ बिधाता मनुजहिं, बिरचेउ जग्यहु, ताता;
कहेउ मनुज सब बाहँ उठाई, 'बाढ़हु, बढ़हु जग्य सन जाई;
जग्य होइ तुम्ह कहँ, नर-नारी, कामधेनु सम सुख-हितकारी;
तोषहु देवन्हि जग्य रचाई, हरषहु देवन्ह तें बरु पाई;
दीन्ह मिलइ एहि सृष्टि मझारी, होहु परसपर मंगलकारी;
तोषे देवन्ह तें बरु पाई, अरपेहु तुम्हहुँ कछुक सुखदाई;
पाइ, दिए बिनु, भोगइ जोई, ताकहँ चोर कहेहु सब कोई;
पूर जग्य-फल सोइ नर लेई, जो देइ लेइ, जो पाएँ देई।
बचइ जग्य-महँ जोइ सोइ पाई, जोगी पाप-रहित होइ जाई;
निज हित लागि जे करहिं सुआरी, जानेहु तिन्हकहुँ पापाहारी।
अन्न तें जनमहिं सब जग-प्रानी, उपजइ अन्न परइ जब पानी,
पानी बरसइ जग्य - प्रतापा, जग्य कर्म बिनु जाइ न थापा,
आदि कर्म कर समझहु ग्याना, ग्यान मूल समुझहु भगवाना,
जो अनादि, सास्वत, अविनासी, को नित कर्म-जग्य - अधिबासी।'

दोहा

अस ध्रुव चालित चक्र महुँ जो नहिं चलइ सुभायँ,
सो भोगी, पापी मरइ, जीवन ब्यरथ बिताय।

चौपाई

जो सुख-सांति आपु महँ पाई, आपु-आपु महँ रहइ समाई,
अरजुन, देखु, समुझु, मन माहीं, ताकरि गरजि करम तें नाहीं।
जो करि जाइ, न जो करि जाई, रहइ सो दोउन तें अरगाई;
सो नहिं राखइ लाग-लगाऊ, कतहुँ, कबहुँ, काहूसन, काऊ;
तदपि जती सो, सुनु, कपिकेतू, कर्म करइ जग-मंगल हेतू।
कर्म तहूँ करु, तजि सब रागा; जौं न करसि अस, अहसि अभागा;
राग-रहित जे कर्म निबाहहिं, तेई ब्रह्म परम पद पावहिं।
सुनु, अरजुन, जनकादिक ग्यानी, सिद्ध भए, बनि कर्म - प्रधानी;
तैं, तिन्हकहुँ आदर्स बनाई, चलु सत्कर्म - सुपथ अपनाई।
चलहिं बड़े जेहि पथ पग धारी, तेहि पकरहिं सब जन संसारी;
जो बड़ सिद्ध करइ, असि रीती, सोइ पावइ सब करि परतीती।
तीनिहुँ लोक, तिकालहुँ माहीं, मोहि करतव्य बिहित किछु नाहीं,
पावै जोग कछुक अस नाहीं, सहज सुलभ नहि जो मोहि पाहीं;
कर्म - निरत मैं तदपि निरंतर, मन्वंतर - अंनर - मन्वंतर।

दोहा

पार्थ प्रमाद, विराग बस, जौं न करौं मैं काम,
काम छाँड़ि बैठैं तुरत, जग नर-नारि तमाम।

चौपाई

कर्म-बिमुख जौं बैठौं जाई, बैठि जाइ ब्रह्मांड निकाई;
जीव नसैं, बिगरै बिधि बाँधी, होइँ मोहिं लगि कोटि उपाधी।
राग-रँगाइ करइ जो भोगी, सोइ करइ जगती महँ जोगी,
पै रहि रागद्वेष - उदासी, होहिं न जेहिं सालस जग-बासी।
जोगी अस कछु करइ न भनई, रागी, कर्म - बिरागी बनई;
जेहि बिधि निज करतब्य निबाहइ, सोइ बिधि औरन कहुं समुझावइ।
जेते कर्म होहिं जग माहीं, होहिं प्रकृतिगत, संसय नाहीं;
पै तिन्हकहँ आपनि कृति मानी, गर्व करहिं, जे नर अग्यानी।

कर्म-प्रबृत्ति, प्रकृति-गुन ग्याता, पहिचानहिं दोउन कर नाता ;
प्रकृति बिंब करमन्ह बिच देखी, बिग्य न बिसरेहु मारहिं सेखी ;
भूलेहु मोह - ग्रसित नहिं होहीं, अरजुन, उचित रहब अस तोहीं ।
पार्थ, प्रकृति - गुन मोहहिं जाही, कर्म पाँस महँ फाँसहिं ताही ;
सरबग्यानी कर नहिं धरमू, करहिं प्रकृति-कर्षित जे करमू,
तिन्हकहँ कर्म-बिरुद्ध बनावइ; धर्म, कर्मगत मोह मिटावइ ।

दोहा

सम-सुस्थिर चित दंभ दलि, भंजि मोह कर फंद,
अरपित करि मोहि कर्म सब, संगरु करु निर्द्वन्द ।

चौपाई

जे, कपिकेतु, कुतर्क हटाई, हृदयँ सुदृढ़ श्रद्धा पधराई,
मोर बतावा पथ अनुसरहीं, कर्म पाँस महुँ ते नहिं परहीं ।
जे कुतर्क - मति, बुद्धि - बिमूढ़ा, होहिं न मम पथ पर आरूढ़ा,
ते नहिं जानहिं निज कल्याना; ते नहिं पावहिं कतहुँ ठेकाना ।
प्रकृति अधीन चलहिं सब प्रानी, जिमि अग्यानी, तिमि बिग्यानी;
प्रकृति कबहुँ नहिं जाइ दबाई, दमनहुँ माँगइ प्रकृति-सहाई ।
इंद्रिन्ह, पार्थ, प्रबल अति ग्राहीं, निज-निज बिषयन्ह प्रति समुहाहीं;
बिषयन्ह प्रति जे रागद्वेषा, मनुज करै तिन्हकहुँ अवसेषा ।
रागद्वेष, कर्म - पथ - ब्याला; अरजुन, इन्हकर दंस कराला; ८०
छाँड़िअ पंथ कि मारिअ साँपा, तोहि एहि दुबिधा कर संतापा;
दुबिधा-हरन बचन सुनु मोरा, एहि नासिहि सब संसय तोरा ।
दोषहुमय निज धर्म सुहावा, गुनहु भरा नहिं धर्म परावा;
ब्याल डसें बरु तैं तजु प्राना, तजि निज पंथ न गहु पथ आना ।"
हरि सन सुनि अस, कुरु-कुल-नाथा, पूछेउ पार्थ पुनः नत - माथा—

दोहा

"केहि प्रेरा चाहेहु बिना, मोकहुँ सूझत नाहिं,
गरुड़ध्वज, परबस मनुज, पाप करत जग माहिं ।"

चौपाई

सुनि अस बोलेउ श्री भगवाना, "अरजुन, जो तैं पाप बखाना,
राग-रोष तजि दूसर नाहीं, इन्हकर जन्म रजोगुन माहीं।
ए दुहुँ पाप करावनिहारे, ए न अघाहिं, अघी अति भारे;
ए नर के बैरी बिकराला, एई कर्म - जोग - पथ - ब्याला।
धूम्र-जाल जिमि झंपइ आगी, मुकुर झँपइ जिमि धूरि अभागी,
आँवर गर्भ झँपइ जेहि भाँती, मेघ झँपइ जिमि उडगन-पाँती,
राग-रोष तिमि झंपइ ग्याना; इन्हकहँ निज रिपु जानु, सुजाना।
सहज बुझइ नहिं इन्हकर ज्वाला, इन्हतें सब नर-नारि बिहाला;
ए इंद्रिय, मन, बुधि बलकाई, ग्यान मनुज कर देहिं उड़ाई।
तातें, पार्थ, प्रथम करु सोई, जेहिं इंद्रिन्ह पर अंकुस होई;
सुनु, जे इंद्रिन्ह के बस नाहीं, राग-रोष तिन्हकें बस माहीं।
इन्हकहुँ ग्यान - बिनासक जानी, अरजुन, लरु इन्हसन रन ठानी;
इन्हकहुँ पाप-मूल पहिचानी, राखु न इन्हकर नाम-निसानी। १००
इंद्रिन्ह आहिं प्रबल, मैं माना; पै मन इंद्रिन्ह तें बलवाना;
प्रबल मनहुँ तें बुद्धि कहाई; बुद्धिहु तें बड़ बुधि कर साईं।

दोहा

सोइ आतम तें साधि बुधि, बुधि तें मन कहुँ साधु,
मन तें इंद्रिन्हि साधि तैं, राग - रोष कहुँ नाधु।

सोरठा

अरजुन, बिजई सोई, राग-रोष जो मारि सक,
यह तब संभव होइ, मोरि सरन जब नर गहइ। १०६

चौथ अध्याय

दोहा

बिबस्वान मोसन सुनेउ प्रथम जोग उपदेसु,
तिन्हसन मनु, मनु सन सुनेउ पुनि इच्छ्वाकु नरेसु।

चौपाई

अरजुन, सुनु, सोइ जोग सुहावा, कहत-सुनत जुग-जुग चलि आवा;
बहुतक राज रिषिन्ह सोइ जाना; पुनि जग तें सो जोग बिलाना।
आपुनु भक्त - सखा तोहि जानी, जोग पुरातन कहेउँ बखानी ;
तोहिसन कहेउँ जो एहिकर भेदा, ताहि न जानहिं सास्त्र न बेदा।"
उपजेउ अरजुन - मन संदेहा, "हरि, धारेउ तुम्ह द्वापर देहा ;
कल्पारंभ बिबस्वत भयऊ; केहि बिधि जोग तिन्हहि तुम्ह दयऊ?"
बिहँसि कहेउ तब नंद-कुमारा, "मैं प्रगटेउँ जग महुँ बहु बारा ;
तोरउ जनमु अनेक - अनेका, इन्हकर तोहि नहिं, मोहिं बिबेका।
जद्यपि मैं अज, नित, अबिनासी, जद्यपि सृष्टि सकल मम दासी ,
तदपि प्रकृति अनुरूप बनाई, प्रगटउँ निज मायहिं उकसाई।
जब - जब धर्म रसातल जाई, रहइ अधर्म धरा पर छाई,
तब - तब, मोर नियम, कपिकेतू, देह धरउँ जग - मंगल हेतू।
करउँ कुकर्मिन्ह कर संघारा, करउँ सुकर्मिन्ह कर उद्धारा ;
नीति मोरि जुग-जुग चलि आई, थापउँ धर्म, अधर्म हटाई।

दोहा

पुन्य जन्म, सुचि कृत्य मम, जो समुझइ सत भायँ,
देह त्यागि जनमइ न पुनि, मोहि महुँ जाइ समाय।

चौपाई

राग - रोष - भय दूरि हटाई, मोरि सरन गहि, मोहि निग्रराई,
ग्यान - तपस्चर्या सन पूता, पाइ चुके मम चरन बहूता।
ध्यावहिं जे मोकहुँ जेहि भाँती, पावहिं ते मोकहुँ तेहि भाँती ;
ग्रस मन बोधि, मोच्छ-पद-कामी लोग बनहिं मम पथ ग्रनुगामी।
कर्म-सिद्धि-प्रिय जे जग माहीं, देवन्ह पहिं बहु जग्य रचाहीं ;
सिद्धि मिलइ तिन्ह कहुँ ग्रबिलंबा, पै नहिं मोर चरन ग्रवलंबा।
ग्ररजुन, गुन-करमन्हि बिलगाई, चौबरनी विधि मोरि बनाई ;
बदलइ, बनइ जो बिरचइ, ताता, नित, ग्रब्यय मैं, जदपि बिधाता।
मोहिं कर्म - फल महुँ नहिं चाऊ, मोकहुँ छुग्रइ न कर्म-प्रभाऊ ;
जे जानहिं ग्रस मोर सुभाऊ, तिन्हकहुँ कर्म न बाँधहिं काऊ।
ग्रस जियँ जानि मोच्छ-पद-कामी पहिलेहुँ भए कर्म - पथ - गामी;
पूर्बज गए जो पथ ग्रपनाई, सोइ पथ पकरेहिं तोरि भलाई।
कर्म - ग्रकर्म - बिभेद निगूढ़ा, बुधहु न बूझहिं, किमि पुनि मूढ़ा ?
मैं तोकहुँ सोइ भेद बताई, देहउँ तव भव - बंध छोराई।

सोरठा

ग्ररजुन, ग्रंतर जानु, कर्म, ग्रकर्म, कुकर्म महुँ,
करु मम बचन प्रमान, टरइ न टारे कर्म-गति।

चौपाई

करमी महुँ निरमोह ग्रकरमी, कर्म - बिमुख महुँ मोहित करमी,
ग्ररजुन, देखि सकइ जो मरमी, सोइ जोगी, सोइ पूरन करमी।
जो करि कर्म सकल निहकामा, नि:संकल्प, बिरत - परिनामा,
ग्यान ग्रगिनि महुँ ग्ररपइ सोई, पार्थ, परम होता सम होई।
सर्ब कर्म - फल तें ग्ररगाना, करतापन कर तजि ग्रभिमाना,
मोहि गहि, सबकर त्यागि ग्रधारा, नित्य - तृप्त जो करइ ग्रचारा,
करमहु करत सो रहइ ग्रकरमी; चरत स्वधर्म, परात्पर धरमी।
जो बुधि, मन, इंद्रिन्ह कहँ जीती, सर्ब परिग्रह सन तजि प्रीती,

कर्म करइ केवल तन हेतू, पाप न लागइ तेहि, कपिकेतू ।
जो नहिं इरिषा के बस होई, सोइ सन तोषइ पावइ जोई,
जाकहँ दुख - सुख एकु समाना, सिद्धि - असिद्धि - बिभेदु अजाना,
करमहु करत करमु नहिं करई, कबहुँ न भव - बंधन महुँ परई ।
ग्यानस्थित-चित, बिगत-बिमोहा, द्वन्द - बिमुक्त, समासन-सोहा,
जग्य समुझि प्रति कृत कर जोई, तासु कर्म सब स्वाहा होई ।

दोहा

ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्माग्नि महुँ, ब्रह्माहुति, ब्रह्मार्थ,
देइ जो पावइ ब्रह्म-फलु, ब्रह्म-कर्म करि, पार्थ ।

चौपाई

कोउ जोगी देवन्ह कहुँ ध्यावइ, तिनकें प्रति बहु जग्य रचावइ;
कोउ मन महुँ अस जग्य सँकलपइ, जग्य - कर्म ब्रह्माग्नि समर्पइ;
कोउ जोगी इंद्रिय - समुदाई संजमाग्नि महुँ देइ जराई;
कोउ बिषयन्ह कहुँ, आहुति बनई, इंद्रियाग्नि महुँ अर्पित करई;
कोउ जोगी इंद्रिय-मन - प्राना— तीनिहुँ कृत करमन्ह कहुँ नाना
देइ आत्म - संजम सन जोरी, जोग - अगिनि जो ग्यान-अँजोरी;
द्रब्य - जग्य जोगी कर कोई; कोउ तप-जोग-जग्य - रत होई,
अनुसासन महुँ मन कहुँ देई; कठिन साध्य ब्रत तन पर लेई;
सास्त्र-मनन-मख कोउ-कोउ रचहीं; ग्यान-जग्य महुँ कोउ-कोउ पचहीं;
कोउ अपान महुँ अर्पइ प्राना; कोउ प्रान महुँ, बाउ अपाना; ६०
प्रानायाम परायन कोऊ होइ, रूँधि साँसन्ह कहुँ दोऊ;
कोउ जोगी रहि मित आहारी, प्रान, समर्पइ प्रान मझारी;
ए सबु जानहिं जग्य - प्रभाऊ; पार्थ, जग्य सब पाप नसाऊ ।

दोहा

पाइ जग्य सेषामृतहि, जोगी पावइ मोहिं,
जग्य-रहित हित जगहु नाहिं, स्वर्ग सुलभ किमि होहि ?

चौपाई

अस बहु विधि मख बेद बखाने; तिन्हकहुँ कर्म-जनित पहिचानें,
अरजुन, मोर बचन करु काना, टूटिहि तव भव-बंध-बिताना।
द्रब्यादिक मख जे जग माहीं, ग्यान-जग्य तें घटि सबु आहीं;
कोउ अस कर्म नाहिं जग माहीं, जाकर अंत ग्यान महुँ नाहीं।
तातें ग्यानिन्ह पहिं तैं जाई, पूछु पाय परि, करि सेवकाई;
तेइ अंतर-द्रष्टा बिग्यानी, कहिहिं ग्यान-महिमा बर बानी।
तिन्हतें पाइ ग्यान उँजियारी, हटिहि, कटिहि तव भ्रम-तम भारी;
तैं देखिहि सब जग निज माहीं, निज कहुँ मोहि तजि दूसर नाहीं।
जौं तैं पापिन्ह महुँ अस पापी, जातें बाढ़ि न कतहुँ, कदापी,
तबहुँ ग्यान-तरनी असवारा, पार करिहि तैं अघ-खर-धारा।

दोहा

पावक-ज्वाला काठ कहँ जारि करइ जिमि छार,
ग्यान-अगिनि सब कर्म कहँ, पार्थ, सकइ तिमि जार।

चौपाई

अरजुन, मन महुँ देखु बिचारी, ग्यान सरिस नहिं पावनकारी;
जोगसिद्ध नर आपुहिं जानहिं; अस अंतर-अनुभव-बल मानहिं।
संजत इंद्रिन्हि दीप बनाई, तत्पर मति कइ बाति लगाई, ८०
उर महुँ श्रद्धा-स्नेह भराई, जाइ ग्यान कइ जोति जगाई।
जागें ग्यान, तिमिर हटि जाई; मोह-कोह, भ्रम-भय कटि जाई;
सांति अनंत मिलइ अबिलंबा; मिलइ तुरित मम पद अवलंबा।
श्रद्धा-स्नेह-रहित नर जोई, ताहि ग्यान कर बोध न होई;
जामहुँ ग्यान-प्रकास न जागा, ताकर संसउ कबहुँ न भागा।
जासु हृदय संदेह-निवासा, तासु होइ निःसंसय नासा;
ताकर नहिं सुख, नहिं संसारा, बादि सरग हित हाथ-पसारा।

पार्थ, ग्यान-बल संसय टारी, जोग-समस्थिरता चित धारी,
कर्म करहिं जे नर, जे नारी, तोरहिं बंधन तेइ संसारी।

दोहा

तातें रहि जोगस्थ तैं, ग्यान-खरग कर धारु;
मोह-जनित संसय सकल रिपु सम समर सँघारु।" ६१



पँचवाँ अध्याय

सोरठा

सुनि जदुपति उपदेस, कुरु-कुल-पति, अरजुन कहेउ,
"ग्यान-रासि-एकेस, मोंहि देखायउ पंथ दुइ।
कर्म-रहित संन्यास, कर्म-समन्वित जोग महुँ,
मोकहुँ अजहुँ न भास, कवन अधिक मंगलकरन।

चौपाई

एक सुनिस्चित पंथ देखाई, बेगि हरहु मम चित दुचिताई।"
दुबिधा-ग्रसित धनंजय जानी, बोलेउ हरि त्रिगमय-हर बानी,
"अरजुन, दोउ पथ मंगलकारी; दोउ पथ भव-भय-बंधन-हारी;
कर्म-समन्वित जोग-बिधाना अधिक सुलभ, सुभकर, मतिवाना।
होइ जो रागद्वेष - उदासी, ताकहुँ समुझु सदा संन्यासी;
सो सब द्वंद - बिकार बिहाई, बेगि सकइ भव-छंद छोराई।
दुहुँ कहुँ बिलग बतावनिहारे, अपढ़, अजान, अकिल के मारे;
चलइ जो एकहु पथ अपनाई, पावइ दुहुँ कर फल सुखदाई।
सांख्य पंथ गहि जन जहँ जाहीं, जोग लच्छ सोइ, दूसर नाहीं;
सांख्य-जोग दोउ पथ करि एका, जे देखहिं, तेइ नर सबिबेका।
अरजुन, जोग, बिगुर बैरागा, सिद्ध न होइ, कठिन अति लागा;
जोग-पंथ जर गहि अवलंबा, पावहिं नर मम पद अबिलंबा।

सोरठा

इंद्रिय, मन, बुधि जीति, सब कहुँ निज महुँ अनुभवत,
जोगी आतम-पुनीत, बिरत रहत करमहु करत।

चौपाई

सांख्य व्रती धर अस मन माहीं, इंद्रिय निज-निज कर्म कराहीं;
सोवहिं, जागहिं, देखहिं नैना; रसना चाखइ, भाखइ बैना; ३८
कान सुनहिं स्वर, सूँघइ नासा, खींचइ बाहेर-भीतर स्वासा;
करइ त्वचा परसन कर भाना; डोलहिं कर; पद करहिं पयाना;
इंद्रिय कर्म करहिं बिधि नाना; करतापन कर तजि अभिमाना,
आपु रहइ सबु तें अरगाना; यह असि-धारा-व्रत, मतिवाना।
अरजुन, कर्मज मोह मिटाई, कर्म जो मोकहँ देइ चढ़ाई,
सोहइ जोग-व्रती सो कैसें, सरसिज पात सलिल-कन जैसें।
तन-इंद्रिन्ह, मन, बुधि-सब ताईं, सब कर्मज - फल - मल अलगाई,
कर्म करइ जोगी, कपिकेतू, निज कहँ विमल बनावन हेतू।
जोगी करमन्ह कर फलु त्यागी, सांति लहइ, मम पद अनुरागी;
करमन्ह कर फलु तजहिं जे नाहीं, अवसि परहिं भव-बंधन माहीं।

दोहा

दस दरवाजा देह महुँ, तन - मन - कृत्य बराय,
सांख्य-व्रती सुख सन बसइ, कर्म न करि, न कराय।

चौपाई

प्रभुहु बनावहिं जीवन्ह हेतू कृत्य, न करतापन, कपिकेतू;
न हि सिरजहिं कर्मज-फल-चाऊ; सब महुँ बिवित प्रकृति-सुभाऊ।
केहुकर पुन्य, न केहुकर पापा प्रभु पहिं गयउ, न प्रभु कहुँ व्यापा;
अरजुन, अग्यान, ग्रसइ अग्याना; सोइ मोहइ सब जीव-जहाना।
सुनु, अग्यान तिमिर घनघोरा; ग्यान बिनासइ तेहि बरजोरा;
तेइ, जिन्ह अंतर-तिमिर बिनासा, सूर सरिस मोहि करहिं प्रकासा।
जे मन-बुधि मोहिसन लयलीना, मोहिमय होहिं ते पाप-बिहीना;
जन्म-मरन भव - बंधन टारी, होहिं परम गति के अधिकारी। ४०
बिद्या-बिनय-बलित जे ग्यानी, तिन्हकहँ बिप्र, स्वपच-सब प्रानी,
केहरि, गौ, गज, रासभ, स्वाना, अरजन, लागहिं एक समाना।

जिन्हकर चित्त समत्व-पुनीता, तिन्हकर एहि जीवन जगु जीता;
दोष-रहित, सम-संजुत जानी मोकहुँ, मोमहुँ निवसहिं ग्यानी ।

दोहा

जो प्रिय पाय न मुदित, नहिं अप्रिय पाय उदास,
थिर, निःसंसय जानि मोहि, मोहिमहँ करइ निवास ।

चौपाई

बाहिज सुख सन जिन्हहि न मोहा, तिन्हकर अंतर - सुख - संदोहा;
जो मोसन लय लेहिं लगाई, तिन्हकर सुख नहिं कबहुँ सिराई ।
अरजुन, बाहिज सुख जगजेते, छन-भंगुर, दुख - मूलक ते - ते;
आदि-अंतमय तिन्हकहँ जानी, तिन्हतें होहिं न मोहित ग्यानी ।
प्रान जायँ जब करि तन खेहा, तातें प्रथम करै जो एहा,
राखै अंतर अस तप - सोधा, जाम न तामहँ काम न क्रोधा,
होइ न काम-क्रोध-फल-भोगी, अरजुन, सोइ सुखी, सोइ जोगी ।
जो अंतर-सुख अनुभव करई, जो अंतर - आराम सपरई,
लेइ जो अंतर जोति जगाई, मोहिमय होइ,मोर पद पाई ।
अरजुन, छाँड़ि जो चित दुचिताई, आपुन पाप - कलाप मिटाई,
सबकर, सब दिन करइ भलाई, मोहिमय होइ, मोर पद पाई ।
काम-क्रोध सन जिन्हहि न प्रीती, करहिं जे निज बस, निज चित जीती,
जिन्हकहुँ ब्रह्म-रूप कर ग्याना, तिन्हकहुँ सर्ब - सुलभ निर्बाना ।
नासाँ चलहिं जे प्रान-अपाना, तिन्हकहुँ थिर करि एकु समाना, ६०
दीठि भृकुटि-अंतर महँ जोरी, बाहिज सुख कहुँ बाहेर छोरी,
आपनि बुधि,मन, इंद्रिन्हि जीती, मारि जो काम, क्रोध, मद, भीती,
अरजुन, मोच्छ परायन होई, ताकहँ छुअइ न बंधन कोई ।

दोहा

सर्ब लोकपति मानि मोहि, सर्ब सुहृद पहिचानि,
सांति लहइ नर जग्य-तप, अरपित मोकहँ जानि । ६५

छठवाँ अध्याय

सोरठा

त्यागि कर्म-फल-आस, करइ जो निज करतब्य नित,
सफल जोग - संन्यास ताकर एहि संसार महुँ ।

चौपाई

जो कर जग्य-कर्म क़र त्यागा, सफल न ताकर जोग - बिरागा ।
जेहि संन्यास कहहिं सब लोगा, अरजुन, सोइ समुझु तैं जोगा;
जे न सकहिं संकल्प बिहाई, ते न सकहिं जोगी पद पाई ।
जोग-पथी कहुँ, सुनु, कपिकेतू, कर्म आहि इमि, जिमि सुठि सेतू;
जोगिहु करै न कर्म समापन; कर्म ताहि जिमि सांति-समासन ।
इंद्रिय-भोग न जाहि सोहाहीं, कर्मज फल महुँ जेहि रुचि नाहीं;
स्वल्प न जेहि संकल्प-सँजोगा, जोगसिद्ध तेहि जानहिं लोगा ।
सो, आपुहि आपुन हितकारी, आपुहि आपुन अहित, बिचारी,
आपुहि करै न आपु खुआरा, आपु करै आपुन उद्धारा ।
अरजुन, लेइ जो आपुहिं जीती, निज सन सोइ निबाहइ प्रीती;
आपुहिं जो न करइ बस माहीं, ताकर निज सम निज रिपु नाहीं ।
जाकर द्वंद-बिकार सिराना, निजकहुँ जीति जो मोहि चित आना,
सुख-दुख, मान तथा अपमाना, जरन-ठरन तेहि एकु समाना ।

दोहा

तृप्त ग्यान-बिग्यान सन, जो थिर, इंद्रिय जीति,
कंचन-काँच समान जेहि, जोगी सोइ पुनीत ।

चौपाई

मित्र, सुहृद अरु बंधु बिसेपी, तट - मध्यस्थ, सत्रु, बिद्वेपी,
साधु, असाधु एकु सम जाही, ताकरि सरिबरि कहुँ कोउ नाहीं ।
जोगिहिं उचित, आपु कहुँ जीती, सर्ब परिग्रह मन तजि प्रीती, ३०
सब मन-अभिमत-मोह बिहाई, रहै अकेल बिजन महँ जाई,
अरजुन, सब जग सन तृन तोरी, अबिरल निज मन मोहिसन जोरी ।
जोगिहिं उचित, स्वच्छ थल पाई, आपुन आसन लेइ लगाई;
राखै तेहि अति ऊँच न खाला, कुस बिछाइ डासै मृगछाला,
मृगछाला पर सुचि पट डारी, बैठै सुस्थिर आसन मारी ।
पुनि चित कहुँ एक ठौर लगाई, रोधै मन - इन्द्रिय - चपलाई,
सोधै अंतःकरन मलीना, रहि निसि-बासर जोग अधीना ।
मेरुदंड, गर, सिरु सम करई, दीठि नासिका-सिख पर धरई,
रहि निस्चल, सुस्थिर, समभाऊ, चितवै दूसरि दिसि नहिं काऊ ।
ब्रह्मचर्ज ब्रत लेइ अखंडा, जीतै इंद्रिन्हि, मन बरिबंडा;
बुद्धि - बिकार समग्र निवारी, भीति बिसारि, सांति चित धारी,
ध्यावै एक मोकहुँ निहकामा, जानइ एक मोहिमहुँ बिश्रामा ।

सोरठा

नित चित मोसन लाय, जोगी मानस राखि बस,
पावइ, मोहिं समाय, सांति परम निर्बान कइ ।

चौपाई

अरजुन, जे भोजन-भट आहीं, कौरागहन करहिं जे नाहीं,
कुंभकरन सम सोवनिहारे, जे जागहिं निसि नैन उघारे,
अत्ति बृत्ति जिन्हकर मन बाँधे, तिन्हतें जोग सधै नहिं साधे ।
आहिं जे युक्ताहार - बिहारी, युक्त कर्मकर, युक्त बिचारी,
युक्त सयन - जागरन करंता, साधहिं जोग ते ब्याधि-हरंता ।
बुद्धि होइ जब निज बस माहीं, छुअइ न मन कहुँ अभिमत छाहीं, ४०

छाँड़ै चित नहिं मोर अधारा, तब जन जानै. जोग सँवारा।
जोगी जब निज चित गति जीती, मोसन लेइ लगाइ सप्रीती,
सोहइ किमि तब तासु बिभूती, दीपक-लौ जिमि बात - अछूती।
जाहि सेइ चित होइ अकामा; जामहुँ चित्त लहइ बिश्रामा;
जाहि पाइ अस बस मन माहीं, पावै जोग अपर कछु नाहीं;
जेहितें आपु आपु कहुँ देखी, आपु लहइ संतोष विसेषी;
जेहितें बुधि गोतीत अनंदा, अनुभव करइ अनंत, अमंदा;
जामहुँ चित सुस्थिर अस होई, ताहि डिगाइ सकै नहिं कोई;
जामहुँ थित नर टरइ न टारा, भलेहि विपति कर गिरइ पहारा;

सोरठा

ताहि समुझु तें जोग, जाकर दुख सन जोग नहिं,
तेहि साधैं सब लोग, दत्तचित्त, दृढ़ता सहित।

चौपाई

जोगी, मन संजमित बनाई, नियमित करि इंद्रिय-समुदाई,
सब संकल्पज काम बिहाई, एक - एक सन पिंड छोराई,
करि बुधि कहुँ धुर धीरज धामा, संचित करि क्रम - क्रम बिश्रामा,
देइ आपु कहुँ मोसन जोरी, देइ अपर चिंता सब छोरी।
अथिर-चपल मन जहँ-जहँ जाई, तहँ - तहँ तें ताकहँ लौटाई,
अरजुन, करि निज बस बरिआई, केवल मोसन देइ लगाई।
जिन्हकें अघ-अवगुन कटि जाहीं, सांति बसइ जिन्हकें मन माहीं,
अरजुन, जे नर ब्रह्म-सँजोगी, तिन्हकहुँ समुझु परम सुख भोगी।
जोगी कलमष - दल अलगाई, मोहिं बचन - तन - मन अपनाई, ६०
पार्थ, सुखेन बनइ मम अंगा, जानइ मोर अछोर प्रसंगा।
जे जड़ - चेतन बसहिं जहाना, जोगी कहुँ सबु एकु समाना;
देखइ निज कहुँ सब महुँ ब्यापा, देखइ सब कहुँ निज महुँ थापा।

दोहा

जो सब जग मोमहुँ लखइ, मोकहुँ सब जग माहिं,
सो मोकहुँ न बिसारई, मैं न बिसारउँ ताहि।

चौपाई

एक मोहिं तजि, दूसर नाहीं, जानि, सकल जड़-चेतन माहीं,
मोहिं भजइ, चित महुँ मोहि धारे, जो निसि - बासर, साँझ-सकारे;
जो मोहि माझ करइ अभिसारा, अरजुन, कवनउँ करइ कवारा,
रहइ सुखारि कि रहइ दुखारी; जो सब महुँ निज रूप निहारी,
देखइ सब कहुँ एकु समाना; जोगी नहिं तेहि सम जग आना।"
सुनि मधुसूदन - बानि अनूपा, बोलेउ पारथ, भारत - भूपा,
"जो सम - जोग कहेउ, भगवाना, सोउ मोकहुँ असि - धार समाना;
तापर थिर होबहु कठिनाई; चलब कहाँ लगि, चित न समाई।
तुम्हहिं बिदित चित चंचलताई, हठ, बल, बेग, बागधर साईं;
हरि, बरु जाइ प्रभंजन बाँधा, जाइ न चंचल-गति मन साधा।"
सुनत बचन बोलेउ बागीसा, कौरव - कुल - कैरव- रजनीसा,
"मैं मानउँ मन चंचल घोरा, सक्ति - मत्त, उद्धत, मुहँजोरा,
पै, अरजुन, मन जाइअ सासा, धारि बिराग, किएँ अभ्यासा।

सोरठा

संजम - रहित न पाव, जोग लहइ सोइ संजमित,
करइ जो सतत उपाव, अरजुन, अस मत मोर सुनु।" ८०

चौपाई

हरि सन सुनि अस, कुरु-कुल-राई, अरजुन पुनि पूछेउ सकुचाई,
"जो श्रद्धा रखि, भोग बिहाई, जोग - पहार चढ़इ उतिलाई,
शृंग न पाइ, गिरइ थकि हारें, ताकरि का गति होइ, मुरारे?
ब्रह्म - परम - पद नहिं निअराई, मायहु तें पुनि दूरि पराई,
का दुइ महुँ एकहु नहिं पाई, अंबर - डंबर जस नसि जाई?
तुम्हहि सकहु सब संसय टारी, तातें तुम्ह पहिं, भव-भय-हारी,
बिनय करउँ, तुम्ह तजि कोउ नाहीं, जातें भ्रम-भय-संसय जाहीं।"
सुनतहि पारथ - आरत - बानी, बोलेउ कृष्न त्रिकालग्यानी,
"पार्थ, लोक, परलोकहु माहीं, ताकर नास बिदित मोहि नाहीं;
सुनु कल्यान - कर्म - रत जोई, ताकरि दुर्गति कबहुँ न होई।

जोग - पहार चढ़इ जो कोई, थकेहु, गिरेहु ताकर हित होई ;
पुन्य - लोक बसि बहु दिन ताईं, जनमइ सुचि सुकृतिन्ह-गृह जाईं ।

दोहा

अथवा जनमइ ग्यान - गुरु जोगिन्ह के कुल माँहि,
जग महुँ पाउब अस जनमु, श्रम बिनु संभव नाहिं ।

चौपाई

तहँ तेहि पुरुब जनम आराधा, ग्यान-जोग, तप-संजम साधा
होइ सुलभ थोरेहि अभ्यासा, करइ सिद्धि हित बहुरि प्रयासा;
पुरुब - जनम - श्रम होइ सहाई, देइ ब्रह्म - पद - पंथ लगाई ।
जोग - दिसा जो करइ पयाना, ताहि न बाँधहिं बेद-बिधाना ;
एहि बिधि जनम अनेक प्रयासा, साधन, आराधन, अभ्यासा
संचित करि, सब कलुष नसाईं, जानइ सांति, परम गति पाईं ।१००
जोगी सम नहिं तप - अभ्यासी, जोगी सम नहिं ग्यान - प्रकासी,
जोगी सम नहिं कर्म - करंता, अरजुन, तैं गहु जोग - सुपंथा ।

दोहा

अरजुन, जोगी जनहुँ महुँ जो मोसन चित लाय,
श्रद्धाजुत मोकहुँ भजइ, सो मोहि माझ समाय । १०४

सतवाँ अध्याय

दोहा

जोग-जुक्त, मम सरन गहि, मन मोहि माझ रमाय,
मोहि जानिहि निःसेष तैं जेंहि, सुनु सोइ उपाय।

चौपाई

गूढ़ ग्यान समपूरन सोई कहिहहुँ तोहि, रखि भेव न कोई;
अरजुन, सुनि समुझें सोइ ग्याना, जानै जोग न रह कछु आना।
सहसन्ह महुँ कोउ एक अस होई, सिद्धि-पंथ पर पग धर जोई,
सिद्धन्ह महुँ कोउ एक अस होई, मोकहुँ साँचेहुँ जानइ जोई।
छिति,जल,पावक, पवन, अकासा, अरु मन, बुद्धि, अहं कर भासा,
अरजुन, पाँच-तीनि मिलि, आठा, ठाठहिं मोरि प्रकृति कर ठाठा।
अपरा प्रकृति समुझु तैं एही, कोउ जड़, निम्न कहहिं कोउ तेही;
परा प्रकृति तेहि ऊपर आही, चेतन, ऊर्ध्व कहहिं कोउ ताही।
सोइ सकल जग कर आधारा; धारइ सोइ सकल संसारा;
प्रकृति परा-अपरा मिलि दोऊ, बिरचहिं सबु जग महुँ जो होऊ।
दोउ बिधि प्रकृति मोरि उपजाई, अंतहुँ मोहि महुँ समिटि समाई;
धारु, धनंजय, अस मन माहीं, मोहि परिहरि कोउ दूसर नाहीं;
संसृति महुँ सबु मोहि सन जोरा, मनकन्ह कहुँ जिमि जोरइ डोरा।

दोहा

होउँ प्रनव मैं बेद महुँ, स्वर, मैं अंबर माहिं ;
दुति, रबि-ससि, रस नीर महुँ, पौरुष, मैं नर माहिं।

चौपाई

सुचि सुगंधि छिति महुँ मैं अहऊँ; आँच सरूप अगिनि महुँ रहऊँ;
जीवन्ह महुँ मैं जीव, सुजाना, तपसिन्ह महुँ मैं तप, मतिवाना।
आहि जहाँ लगि जो चहुँ फेरा, बीज सनातन मैं सबु केरा;
बुध महुँ बुधि मैं होउँ, सयाना, तेजिन्ह महुँ मैं तेज समाना;
बीरन्ह महुँ मैं बर जेहि माहीं, मोह-लोभ कै रंच न छाहीं;
मनुजन्ह महुँ मैं अभिमत सोई, जो नहिं धर्म-असंमत होई;
सात्विक, राजस, तामस भावा, समुझु सबन्ह कहुँ मोहिसन आवा,
पै, अरजुन, धरु अस मन माहीं, ते मोहि महुँ, मैं तिन्ह महुँ नाहीं।
बिस्व बिमोहहिं त्रिगुन-सुभाऊ, त्रिगुन छुअहिं नहिं मोकहुँ काऊ;
त्रिगुन-तिमिर-बिचलित संसारा मोहि अब्यय कहुँ लखै न पारा।
मोरि देव - माया गुरु गूढ़ा, करइ त्रिगुन-बस-बिस्व बिमूढ़ा;
माया कइ अति दुस्तर धारा; मम पद गहइ सो उतरइ पारा।
माया करइ जिन्हहि अग्यानी, असुर सुभाव धरहिं जे प्रानी,
मूढ़, कुटिल जे कुकरमकारी, गहहिं न मोर सरन भ्रम-हारी।

दोहा

जे सुकरम-रत नर भजहिं मोहिं, ते चारि प्रकार,
ग्यानी, जिग्यासा - निरत, आरत, अरथ - सँवार।

चौपाई

इन्ह महुँ सम-सुस्थिर-मति-धारी, नित चित एक मोहि महुँ लयकारी
ग्यानी कहुँ मैं प्रान-अधारा; ग्यानिहु मोकहुँ परम पिआरा।
ए सब सुकरमकार, उदारा, पै ग्यानी महुँ मैं साकारा;
अरजुन, सम-सुस्थिर-मति ग्यानी निवसइ मोहिं परम गति जानी।
जन्म-जन्म जे साधन करहीं, ते ग्यानी मोकहुँ चित धरहीं,
'बासुदेव सबु', जो अस धारा, सो साधक दुर्लभ संसारा।
पै अभिमत - हतग्यान बहूता, निज-निज प्रकृति-बिबस अवधूता
दूसर देवन्ह कहँ चित धरहीं, जो जस तोषइ तसि बिधि करहीं।

अरजुन, जो जेहि महँ चित लाई, निज तन-मन-धन देइ चढ़ाई,
मैं तेहि महँ ताकरि सेवकाई, ताकरि श्रद्धा देहुँ दृढ़ाई।
सोइ श्रद्धा सन संजुत होई, इष्ट देव निज ध्यावइ सोई;
पावइ पूजन कर फल जोई, केवल मोरइ अभिहित होई।
पै मतिरंक न जानइ एहा, अंतहु अस फलु होइहि खेहा;
देवन्हि लहहिं जे पूजहिं देवा, मोकहुँ पाव जो मोकहुँ सेवा।

दोहा

जे अबिबेक ते मोहि परम, अत्युत्तम, अव्यक्त,
अव्यय कहुँ निज मोह बस, अरजुन, समुझहिं ब्यक्त।

चौपाई

होहुँ जोग-माया महुँ गोई निज कहुँ, रहहुँ अगोचर होई;
जानि सकहिं नहिं जे नर मूढ़ा, मोहि, अज, अव्यय, अच्छय, गूढ़ा।
भए, अहहिं, होइहहिं जग माहीं जे ते मोकहुँ अबिदित नाहीं;
पै मोकहुँ कोउ जानत नाहीं, अरजुन, धरु अस निज मन माहीं।
इच्छा-द्वेष-जनित बहु द्वंदा मोहहिं सब कहुँ करि मतिमंदा;
जिन्हकर पाप-कलाप सिराना, जे सुभ कर्म करहिं बिधि नाना,
जे निर्द्वंद, बिमोह-बिसारी, जे दृढ़-निस्चय, दृढ़ ब्रत-धारी,
अरजुन, मोहिं भजहिं लय लाई, सब सन मति, मन, दीठि हटाई;
रहि मम सरन, जतन कर जोई, जन्म-मरन महँ नहिं पर सोई।
सोइ समुझइ मोहि ब्रह्म अनूपा, सोइ समुझइ अध्यात्म सरूपा,
सोइ समुझइ सब कर्म-बिधाना, सोइ समुझइ मम सृष्टि-बिताना। ६०
अरजुन, जो 'अधिभूत' कहावा, जो 'अधिदैव' तें जाइ जनावा,
जेहि जानहिं 'अधिजग्य' सुजाना, मैं तीनिहुँ कर एक निधाना।

दोहा

जो पहिचानत एक मोहि, तीनिहुँ अंग समेत,
अंतहुँ मोहि अस जानई, सो नर जोग-सचेत।" ६४

अठवाँ अध्याय

दोहा

समुझि परी नहिं पार्थ कहुँ, हरि बानी सबिबेक,
सचकित दृग प्रभु कहुँ चितइ, पूछेउ प्रस्न अनेक—

चौपाई

" 'ब्रह्म' काह? मोहि कहहु, सुजाना; का 'अध्यात्म' ? कहहु, मतिमाना;
'कर्म' काह ? मोहि कहहु बुझाई, का 'अधिभूत' ? बतावहु, साईं;
का 'अधिदैव' ? बिबेक-निधाना; का 'अधिजग्य' ? कहहु, भगवाना ।
जोगिन्ह कहुँ तन महुँ, तन-अंता, जानि परहु केहि बिधि, श्रीकंता ?"
सुनि सब प्रस्न, कहेउ जदुराई, "उत्तर सुनु मम, ध्यान लगाई;
'ब्रह्म' सोइ नहिं जाकर नासा; सोइ 'अध्यात्म' जो आत्म-प्रकासा;
'कर्म' सोइ जेहि करि, जेहि लागी, जागहिं जीव, सृष्टि सब जागी ।
अपरा प्रकृति सजग 'अधिभूता'; परा प्रकृति 'अधिदैव' असूता;
एहि तन मध्य मोर अवतारा, सोइ 'अधिजग्य' बिदित संसारा ।
अंत समय मोहि भर मन धारी, जे तन त्यागहिं ते नर-नारी,
अरजुन, आइ मिलहिं मोहि माहीं, एहि महुँ रंचहु संसउ नाहीं ।
जो नित जो चित ध्यान धराही, अंतहुँ सोइ रहइ मन माहीं;
जो मन धारि तजइ तन देही, अरजुन, सोइ मिलइ पुनि तेही ।

दोहा

तातें बुद्धि समर्पि मोहि, सुमिरत मोहि मन माहिं,
तै रन करिहि त मोहि लहिहि, एहि महुँ संसउ नाहिं ।

चौपाई

चित्त - वृत्ति जगती तें तोरी, करि अभ्यास जोग मन जोरी,
जो मोहि एक, धनंजय, ध्यावा, दिव्य परम पुरुषोत्तम पावा।
मोहिं तमारि महा, तम पारा, लघुतर-तम अनु कर आधारा,
नित्य-समान, अनादि, अनंता, ध्यान - अगम्य, रम्य श्रीकंता,
सबँदरसी, सब-सृष्टि-नियंता, सुमिरत साँस - साँस भगवंता,
अंत सभक्ति, जोग-बल प्राना, भृकुटि-संधि महुँ करि संधाना,
जो निस्चल मन मोहि महुँ लावा, दिव्य परम पुरुषोत्तम पावा।
बेद-बिग्य जेहि अच्छर कहहीं; बीतराग तपि जाकहँ लहहीं;
जेहि पावन-पद पावन हेतू, ब्रह्मचर्ज धर नर, कपिकेतू;
तेहि पद कै महिमा कल्यानी, कहिहहुँ तोहि संछेप सुबानी।
रूंधि सकल इंद्रिन्ह कर द्वारा, करि मन कहुँ उर माझ सुठारा,
करि मस्तक महुँ सुस्थिर प्राना, होइ सुस्थिर-चित जोग-विधाना,
जपत निरंतर ब्रह्म सुनामा, ॐ एक अच्छर अभिरामा,
जो मोहि सुमिरि सरीर सिरावा, पारथ, सोइ परमारथ पावा।

दोहा

जोग-जुक्त रहि, चित्त धरि मोहि तजि दूसर नाहिं,
जो सुमिरत मोहि नित, सतत, होहुँ सुलभ मैं ताहि।

चौपाई

साधक सोइ परम सिधि पावा, अरजुन, जाकहँ मैं अपनावा;
सो तजि भंगुर, दुखद सरीरा, सहइ न बहुरि जनम कै पीरा।
ब्रह्म-लोक आदिक महुँ जाई, जनमहिं लोग जगत महुँ आई;
अरजुन, जे नर पावहिं मोहीं, ते नहिं जन्म-मरन बस होहीं।
ब्रह्म-दिवस जब एकु सिराई, एक सहस जुग जग कर जाई;
ब्रह्म-निसा कर सोइ परमाना, जान जो, काल मरमु सोइ जाना।
ब्रह्म-प्रात महँ अग-जग सारा, ब्यक्त करइ, अब्यक्त - पेटारा;
ब्रह्म-साँझ महँ अग-जग जाई, अरजुन, पुनि अब्यक्त समाई।
ब्रह्म-साँझ महँ सब संसारा, लीलइ जो अब्यक्त - पेटारा,

परबस होइ सोइ सब संसारा, उगिलइ बहुरि भएँ भिनुसारा।
भंगुर सो अव्यक्त असक्ता; तापर एकु अपर अव्यक्ता;
ताहि सनातन समुझहिं ग्यानी; अथवँइ जब अव्यक्त - कहानी,
चुकइ जगत कर खेल-तमासा, होइ तबहुँ नहिं ताकर नासा।

दोहा

सोइ अच्छर अव्यक्त कर, पार्थ, परम गति नामु;
बहुरहिं नहिं नर पाइ जेहि, सोइ मोर धुर धामु।

चौपाईं

जो कर अनु-अनु-अंतरबासा, जामहुँ कर ब्रह्मांड बिलासा,
परम पुरुष, मोहि, पावइ सोई, भगत अनन्य मोर जो होई।
जेहि मग जाइ न बहुरहिं जोगी, रहहिं निरंतर मोर सँजोगी,
पुनि बहुरहिं जेहि मारग जाई, दोउन तोहिं कहहुँ समुझाई।
जामहँ ऊर्ध्वंग अगिनि जराई, धूम - रहित नित जोति जगाई,
सुकल-पच्छ हिमकर कर हासा, उत्तर - उन्मुख भानु प्रकासा;
अरजुन, जे एहि पंथ पयानी, पावहिं ब्रह्म ते ब्रह्मग्यानी।
जामहुँ धूम्र - बिवर्त - प्रसारा, जोति बिहीन तमस बिस्तारा,
कृष्न - पच्छ - रजनीस-जुन्हाई, दच्छिन मुख रवि कै अरुनाई;
अरजुन, जे एहि पंथ पयानी, चंद्र - लोक पहुँचहिं ते प्रानी।
तहँ निज सुभ कृति कर फलु पाई, जनमहिं पुनि संसृति महुँ आई।
सुकल-कृष्न दोउ पंथ सुहाए, पार्थ, सनातन तें चलि आए; ६०
सुकल पंथ गहि फिरहिं न ग्यानी, कृष्न पकरि पुनि बहुरहिं प्रानी।
दुहुँ पथ-अंतर जानइ जोई, मोह - बिमोहित कबहुँ न होई;
जोग-जुक्त रहि तैं सब काला, बान-पंथ गहु, तजि पथ-ब्याला,
जो निज पूँछ धरे मुख माहीं, जेहि अनुसरि नर बर्त भँवाहीं।

दोहा

बेद-जग्य - तप - दान - फल तें जोगी उपरामु,
बान - पंथ गहि, लहइ मम परम सनातन धामु। ६६

नवाँ अध्याय

दोहा

तोहि अकुतरकिहि कहहुँ मैं गुह्य ग्यान-बिग्यान,
जेहि जानें सब असुभ तें होइ तोर परित्रान।

चौपाई

अहहिं जगत महुँ बहु बिधि ग्याना, राज ग्यान यह जाइ बखाना;
जतन सहित यह जाइ दुरावा, अधिकारी कहुँ जाइ बतावा।
यह अति उत्तम पावन ग्याना, अनुभव - अवगत होइ, सुजाना;
धर्म-सुसंमत, सुगम, सुबोधा, अरु अनुसरत सुकर, बर जोधा।
अरजुन, धरु मन अस बिस्वासा, होइ कबहुँ नहिं एहिकर नासा;
जे मन महुँ श्रद्धा न धराहीं, ते न धरहिं पगु एहि मग माहीं।
अरजुन, जे मोहि पावत नाहीं, ते भव - सागर - वर्त भ्रमाहीं।
मोहि अब्यक्त मूर्ति के अंगा आहिं जगत - जड़ - जीव अभंगा;
सब जगमगहिं मोरि गहि छाहीं, ते मोहि महुँ, मैं तिन्ह महुँ नाहीं;
ते मोहि महुँ, ते मोहिमय नाहीं; मैं तिन्हमय नहिं, नहिं तिन्ह माहीं।
सब अग-जग मोरइ जनमावा, मोरइ पोषा, मोर बढ़ावा;
माया मोरि तदपि अस करई, मोपर तिन्हकर छाँह न परई।

दोहा

जेहि बिधि नित्य अकास महुँ बिचरइ, बसइ बतासु,
तेहि बिधि सब अग-जग बसइ मोहि महुँ, करु बिस्वासु।

चौपाई

कल्प छएँ सब अग-जग आईं, मोरि प्रकृति महुँ जाइ समाईं;
कल्पारंभ होइ जेहि काला, मैं सिरजहुँ पुनि अग-जग-जाला।
अरजुन, आपुनि प्रकृति हँकारी, जेहि बस बिचरहिं सब संसारी,
मैं पुनि-पुनि बिरचहुँ जगु सारा, सबकें गुन - करमन्ह अनुसारा।
मैं नित सत-चित-आनँद-रासी, तिन्हतें रहहुँ बिरक्त - उदासी;
मोहि गुन-कर्म न बाँधहिं काऊ, मैं नित अच्युत, मुक्त-सुभाऊ।
मोरि प्रकृति अधिपति मोहि मानी, बनइ चराचर बिस्व - बिधानी,
सोइ नचावइ अग-जग सारा; मैं नित निस्चल, जगदाधारा।
अरजुन, जे नर अबुझ, अनारी, जिन्हकरि बुद्धि कुतर्क बिगारी,
ते मोहि, बिस्वाधार बिसारी, अवमानहिं कहि नर - तन - धारी।
अरजुन, ते नर बुद्धि-बिकारी, राच्छस-प्रकृति, असुर-बृति-धारी;
तिन्हकर ग्यान अकारथ जाई, कर्म न सधइ, न आस पुराई।
जे नर देव-प्रकृति-उर-धारी, जे सुकर्म - रत, जे सुबिचारी,

दोहा

ते मोहि अब्यय महुँ सकल अग-जग स्रोत निहारि,
अरजुन, भजहिं अनन्य मन, मोकहुँ उर महुँ धारि।

चौपाई

ते मम हेतु जतन बहु करहीं, भगति-मृदुल उर दृढ़ ब्रत धरहीं,
जोग जुगुति सुमिरहिं मम नामू, बहुरि - बहुरि मोहि करहिं प्रनामू,
मोहि अनुभवहिं सदा निज पाहीं, मोर भजन, गुन-गान कराहीं।
कोउ-कोउ ग्यान-जग्य रत होहीं, बिबिध प्रकार उपासहिं मोहीं,
कोउ एहि भाँति धरहिं मन माहीं, एक मोहिं तजि दूसर नाहीं।
स्वामि,सखा,सिसु कोउ मोहि मानी, भजहिं पृथक निज कहुँ पहिचानी;
अरजुन, औरउ अहहिं प्रकारा, जेहिं नर पूजहिं मोहि भव-सारा।
देव, पितर, जग-जीवन-धारी, जेहि मख तोषहिं, होहिं सुखारी,
मैं सोइ मख, सोइ जग्य-बिधाना, हुत, घृत, पावक, मंत्रहु नाना।

मैं जग-जनक-पितामह-माता, मैं जड़ - चेतन — सबकर धाता,
ग्यान-लच्छ, सुचि ॐ सुनामा, अरजुन, मैं रिक, यजु अरु सामा।
मै उदभव, थिति, प्रलय, निधाना, सृष्टि-बीज, अव्यय, भगवाना;
मैं करता, भरता, अपहरता, सरन, सुहृद, साखी, प्रभु, धरता।

दोहा

मैं रबि सम सोखउँ अवनि, देहुँ जलद सम सींच,
अरजुन मैं सत, मैं असत, मैं अमरित, मैं मीच।

चौपाई

जे रिक, साम, यजुर अनुयाई, सोम पान करि, पाप बिहाई,
जग्य तोपि मोहि, मागहिं एहा, स्वर्ग-लोक महुँ पावैं गेहा,
ते निज पुन्य कृत्य अनुरूपा, पावहिं सुरपति - लोक अनूपा।
तहँ रहि दिव्य बिभूतिन्ह माहीं, दिव्य देव - सुख - भोग कराहीं;
एहि बिधि लहि सुर-लोक बिसाला, ते हुलसहिं, बिलसहिं कछु काला;
पै भोगें जब पुन्य सिराई, मर्त्य-लोक महुँ प्रबिसहिं आई।
जे रिक, साम, यजुर अनुरागी, पुन्य करहिं सुख-भोगन्ह लागी,
पाइ न ते जग तें छुटकारा, धरहिं, तजहिं तन बारहिं बारा।
जे अनन्य मन सुमिरहिं मोहीं, जे मोहि मन छन दूरि न होहीं,
जे नित निज चित मोसन बाँधे, तिन्हकर जोग-छेम मम काँधे।
करहिं जे श्रद्धा-भगति दृढ़ाई, दूसर देवन्ह कै सेवकाई,
अरजुन, तेउ पूजहिं एक मोहीं, जद्यपि ते बिधि-बिग्य न होहीं।
मैं सब मख कर भोगनिहारा, सब मख कर पालक, रखवारा;
ते जानहिं नहिं मोर सरूपा, तबहिं परहिं पुनि-पुनि भव-कूपा। ६०
देव-ब्रती देवन्ह पहिं जाहीं, पितर-ब्रती, निज पितरन्ह पाहीं,
प्रानि-ब्रती प्रानी पुनि होहीं, मोकहुँ भजहिं ते पावहिं मोहीं।

दोहा

पत्र, पुष्प, फल, तोय कर जो मोकहुँ उपहार,
देइ सभक्ति, सप्रीति मैं ताहि करउँ स्वीकार।

चौपाई

जो तैं रच्छ, भच्छ, करु पाना, जो तैं करु मख, जप, तप, दाना,
जौं तैं मोर, उचित अस तोही, अरजुन, अरपित करु सबु मोहीं।
मोपहिं कर्म फलित नहिं होई, काटइ कर्म - कुबंधन सोई;
जोग-जुक्त संन्यास जगाई, मुक्त मिलिहि तैं मोहि महुँ आई।
लोगु एकु सम सबु मोहि पाहीं, मोकहुँ कोउ प्रिय, अप्रिय नाहीं,
जे मोहि भजहिं सभक्ति सदाहीं, मैं तिन्हकें हियँ, ते मोहि माहीं।
होउ न कस कोउ कुटिल, कुचारी, जो अनन्य मन मोहि उर धारी,
दृढ़ निश्चय करि सुमिरइ मोहीं, अरजुन, साधु समुझु तैं ओही;
होइ सो बेगि धरम-धर संता, पावइ सांति अखंड, अनंता।
अरजुन, धरु मन माझ दृढ़ाई, मोर भगत नहिं कबहुँ नसाई;
पार्थ, अहहिं जे वैस्य, अछूता, नारी - नर अघजोनि, अपूता,
तेउ जब मम सरनागत होहीं, पाइ परम गति, पावहिं मोहीं।
कहँ पुनि पुन्य-व्रती द्विज-देवा, कहँ राजर्षि हरिहि जेहि सेवा!
दुखमय, भंगुर जग महुँ जाई, मोर भजन करु ध्यान लगाई।

दोहा

मोंहि सुमिरि, भजि, पूजि, नइ सरन बरन करि मोरि,
अरजुन, पाइहि मोंहि तैं, निज कहुँ मोहिसन जोरि। ८०

०

दसवाँ अध्याय

सोरठा

अरजुन, सुनु पुनि मोर बचन, परम संसय-हरन,
होइहिं मंगल तोर, कहहुँ जानि तोहि निज भगत।

चौपाई

उदभव मोर न जानहिं देवा, लहहिं महारिषि नहिं मम भेवा;
जे सुर मूल, महा रिषि आहीं, बीज सबन्ह कर एक मोहि माहीं।
अजनित, आदि-रहित मोहि जानी, मोकहुँ लोक - महेस्वर मानी,
जे नर मोहिं भजहिं चित लाई, तिन्हकर पाप समूल सिराई।
जे नर होहिं न मोह-बिमूढ़ा, तेइ जानहिं मोहि नित्य-निगूढ़ा।
अरजुन, उदभव, थिति, संघारा, बुधि, बिग्यान, मोह - निस्तारा,
सत्य, समत्व, दया, धृति, ध्याना, दम, सम, तोष, छमा, तप, दाना,
जस,अपजस,दुख,सुख बिधि नाना, निर्भयता - भय - भाव - बिताना,
जे जग-जीवन्ह कहँ उरझाहीं, तिन्हकर मूल स्रोत मोहि माहीं।
आदि महर्षि सप्त, मुनि चारी, जिन्हकर आहिं प्रजा संसारी,
आहिं सकल मम मानस जाता, भाव सबन्ह कर मोहि महुँ, ताता।
जिन्ह अस मोर बिभव-बल साचा, जाँचा, तिन्हकर मन मोहि राचा;
तिन्हकर जोग डिगा नहिं काऊ, नाहिन एहँ संसय कर ठाऊँ।
मोहिं ते जनमइ सब संसारा, मोहिं ते पावइ पुनि बिस्तारा,
अस लखि,मोहि रखि,निज उर माहीं, अरजुन, बुधजन मोहिं भजाहीं।

ते नित चित महुँ धरि मम ध्याना, मोहिं समरपित करि मन-प्राना,
करहिं, सुनहिं मम कीरति-गाना, पावहिं सुख - संतोषु अमाना।
निज कहुँ मोहिसन जोरहिं जोई, सुमिरहिं मोहि, मन भगति भिगोई,
मैं तिन्ह महुँ बुधि-जोग जगाई, देहुँ तिन्हहि निज रूप देखाई।

सोरठा

तिन्हपर अनुकंपार्थ, तिन्हकें अंतर महुँ जगहुँ,
ग्यान-दीप सम, पार्थ, जो नासइ अग्यान-तम।"
समुझि पार्थ निज दास, हरि बोधेउ एहि भाँति जब,
जाग हियें बिस्वास, अरजुन बोलेउ जोरि कर—

चौपाई

"परम ब्रह्म तुम्ह, परम पुनीता, परम धाम तुम्ह, ग्यान-अतीता,
दिब्य पुरुष, दस दिसि अधिबासी, आदि देव, अज, नित, अबिनासी।
रिषि, देवर्षि तुम्हहि अस जाना, अस देवल, अस असित बखाना,
नारद, ब्यास तुम्हहि अस गावा, अस निज कहुँ मोहि तुम्हहुँ बतावा।
जो कछु, नाथ, कहहु मोहि पाहीं, सबु सचु मानि धरहुँ मन माहीं,
तुम्ह अब्यक्त-ब्यक्त कर भेवा, जानि सकहिं नहिं दानव-देवा।
जगत-जनक-पति, जगत-नियंता, पुरुषोत्तम पूरन, श्रीकंता,
तुम्ह देवाधिदेव, भगवाना, आपु, आपुतें, आपुहि जाना।
जेहि बिभूति सन अग-जग ब्यापी, रहहु सबन्ह महुँ निज कहुँ थापी,
सोइ बिभूति निज दिब्य, अनंता, मोहि कहि सकहु तुम्हहि, भगवंता।
केहि बिधि चिंतन करि सब काला, जानि सकौं तव रूप बिसाला?
जोगेस्वर, समुझावहु मोहीं, केहि-केहि भाव भजौं मैं तोही?

दोहा

आपुनि जोग-बिभूति, प्रभु, मोहिं कहहु समुझाय,
तव बचनामृत पान करि, कान न मोर अघाय।"

सोरठा

सुनि अरजुन के बैन, भक्ति-भाव-भींजे-भरे,
श्रीपति करुना-ऐन, बोलेउ बचन श्रवन-सुखद—

चौपाई

"अरजुन, तोहिं कहहुँ समुझाई, आपुनि कछुक बिभूति - निकाई;
मोहिं सकइ नहिं गहि मन तोरा; मम बिस्तार न जानइ छोरा।
जे जड़-चेतन, जीव-जहाना, अरजुन, मैं सब कर मन-प्राना;
सब महुँ आतम रूप समाना; सब कर आदि, मध्य, अवसाना।
दुतिवंतन्ह• महुँ मैं रबि रूपा; अदिति-सुतन्ह महुँ, बिष्नु अनूपा;
मरुतन्ह महुँ मैं मरुत मरीचा; नखतन्ह महुँ, ससि अमरित-सींचा।
बेदन्ह महुँ मैं साम सुगाना; देवन्ह महुँ, बासव बलवाना;
इंद्रिन्ह महुँ मैं मन, मतिवाना; जीवन-धारिन्ह महुँ मैं ग्याना।
शृंगन्ह महुँ मैं मेरु बिसाला; आठ बसुन्ह महुँ, पावक-ज्वाला;
रुद्रन्ह महुँ, संकर परमेसा; राकस-जच्छन्ह मध्य, धनेसा।
मोहिं पुरोधन्ह महुँ, मतिवाना, जानु बृहस्पति, ग्यान-निधाना,
अनिपन्ह महुँ, अस्कंद जुझारा; जल-तालन्ह महुँ, जलधि अपारा।
भृगु मोहि जानु महर्षिन्ह माहीं, सब्दन्ह महुँ, ओंकार सदाहीं;
जग्यन्ह महुँ, जप-जग्य प्रधाना, अचरन्ह मध्य, अचल हिमवाना;

सोरठा

पीपर, बिरिछन माहिं; नारद, सब सुर-मुनिन्ह महुँ;
कपिल, सिद्धगन माहिं; गंधर्बन्ह महुँ, चित्ररथ।

चौपाई

समुझु नरन्ह महुँ मोकहुँ राजा; ऐरावत, गजराजन्ह माझा;
अस्वन्ह मध्य अमिय-संजाता, उच्चैःश्रवा समुझु मोहि, ताता;
सस्त्रन्ह महुँ मोहि, कुलिस कठोरा; सुरभिन्ह महुँ, सुरधेनु कलोरा;
प्रजनकरन्ह महुँ मोहि, कंदर्पा; सर्पन्ह महुँ मोहि, बासुकि सर्पा;
नागन्ह महुँ मोहि, नाग अनंता; जलचारिन्ह महुँ, जलचर-कंता;
पितर अर्जमा, पितरन्ह माझा; सासनकारिन्ह महुँ, जमराजा;
दैत्यन्ह महुँ, प्रहलाद सुचाला; गनकन्ह महुँ मोहि, अथकित काला।
समुझु मृगन्ह महुँ मोहि मृगराजा; बैनतेय मोहि, पच्छिन्ह माझा;
पावनकारिन्ह महुँ मोहि, बाता; आयुध-कर-धारिन्ह महुँ, ताता,

रामु समुझु मोहि, बाहु बिसाला; मीनन्ह महुँ मोहि, मकर कराला;
सुरसरिता मोहि, सरितन्ह माहीं, होइ सबन्ह कर हित जेहि पाहीं ।
सृष्टिन्ह महुँ तैं समुझु, सुजाना, मोकहुँ आदि, मध्य, अवसाना;
बिद्यन्ह महुँ मोहि, ब्रह्मग्याना; बादिन्ह महुँ मोहि, बाद प्रधाना ।

दोहा

महाकाल - आकास कर धाता मैं, बड़बाहुँ;
मैं अकार अच्छरन्ह महुँ, द्वंद समासन्ह माहुँ ।

चौपाई

प्रलय समुझु मोहि, सब संघारी; पुनि उदभव, जग - उतपतिकारी;
तिय बाची गुन गन महुँ, ताता, मोहिं समुझु तैं सदगुन साता—
कीरति, भूति, भनिति हितकारी, स्मृति, मेधा, धृति, छांति सुचारी—
बृहत्साम मोहि, मंत्रन्ह माहीं, गायत्री मोहि, छंदन्ह माहीं ।
माघ समुझु मोहि मासन्ह माझा; समुझु रितुन्ह महुँ मोहि रितुराजा;
जूप समुझु मोहि छलियन्ह माहीं; तेजिन्ह कर मोहि तेज सदाहीं;
ब्यवसाइन्ह कर मोहि, ब्योपारा; छत्रिन्ह कर मोहि, बिजय-प्रचारा ।
सुनु, सतगुन-धर बिप्रन्ह माहीं, जो सत, मोहि तजि दूसर नाहीं । ८०
बृष्निन्ह महुँ मैं कृष्न अनूपा; पांडु - सुतन्ह महुँ, अरजुन-रूपा;
ब्यास, मुनिन्ह महुँ मैं बिख्याता; सुक्राचार्ज, कबिन्ह महुँ, ताता ।
दमनकरन्ह महुँ मैं कर-दंडा; बिजइन्ह कर मैं नीति अखंडा;
ग्यानिन्ह कर मैं तत्वग्याना; गुह्यन्ह महुँ मैं मौन, सुजाना ।
जे जड़-चेतन, जीव-जहाना, सुनु, सब कर मैं बीज प्रधाना;
जे चर-अचर बसहिं जग माहीं, सब महुँ मोहि तजि दूसर नाहीं ।
अंत बिभव मम जानत नाहीं; संछेपहिं बरनेउँ तोहि पाहीं ।
अरजुन, अग-जग महुँ जहँ जोई, सक्ति, सतोगुन संजुत होई,
जहँ जोइ कीरति-भूति-सजावा, मोरइ तेज अंस उपजावा ।

दोहा

तोर सरिहि नहिं काजु कछु, मोर सुनें बिस्तार,
मैं निज बर लवलेस तें धारहुँ सब संसार ।" ८१

ग्यारहवाँ अध्याय

दोहा

परम गुह्य अध्यात्म कर सुनि एहि भाँति बखान,
कहेउ धनंजय नाइ सिरु, "धन्य, धन्य, भगवान !

चौपाई

नाथ, भगत मोहि आपुनु जानी, कहेउ जो निज वैभव बर बानी,
तातें मोर मिटेउ अग्याना, मोर बिमोह - बिकार सिराना ।
कमल-नयन, भल मोहिं बखाना, सब जग कर उदभव, अवसाना,
किंतु सकल परिवर्तन माहीं, तुम्ह परिवर्तन - हीन सदाहीं ।
जस बरनेउ निज कहुँ तुम्ह, स्वामी, तस धारहुँ उर, अंतरजामी;
तदपि चहउँ अस अलख, अनूपा, लखउँ तुम्हार बिराट सरूपा ।
जौं समुझहु, प्रभु, मोहि अधिकारी, प्रगटहु सनमुख अग-जग-धारी ।"
नरपति, अरजुन, जब अस भाषा— हरि हरिजन मन कब नहिं राखा?—
तुरतहि बोलेउ कृष्न उदारा, "एवमस्तु, लखु मोर प्रसारा—
लखु मोहि अगनित रूपन्ह माहीं; कोउ मम दिव्य बिभा बिनु नाहीं;
बहुरंगी, बहु आकृतिवारे, बहु गुन, कर्म, स्वभाव सँवारे ।
लखु द्वादस आदित्य प्रचंडा; लखु एकादस रुद्र अखंडा;
अष्ट बसुन्ह कर देखु अखारा; देखु जुगल अस्विनी कुमारा ।
देखु मरुत उंचास असेषा, अरु बहु अचरजु असुन, अदेखा;
देखु, पार्थ, मम देह मझारी, एकत जग - जड़ - चेतन झारी;
कल्पित, दीख कतहुँ कछु नाहीं, जो दीसिहि नहिं तोहि मोहि माहीं ।

दोहा

प्राकृत दृग दीसिहि न तोहि मोर सरूप अछोर,
दिब्य दृष्टि तोहि देहुँ जेहिं जोग बिभव लख मोर।"

चौपाई

अस कहि जोगेस्वर निज रूपा, अरजुन कहुँ देखराएहु, भूपा;
ताकर भब्य बिभव - बिस्तारा, को अस जग महुँ बरनै पारा ?
बिस्व-रूप प्रगटे तेहि काला, अथ-इति-रहित नयन-मुख-माला,
अगनित,भृकुटि,त्रिकुटि,श्रुति,भाला, नासा, कर, पद, उदर बिसाला।
सुरभित चंदन चर्चित देहा, मनहुँ बेद कर मंत्र उरेहा;
अँग-अँग भूषन भब्य सँवारा, आयुध भब्य भुजन्ह महुँ धारा;
अंग - पटंबर दिब्य सुहावा, इंद्र - धनुष धुनि, काति बनावा !
कंठ-कंठ झूलइ बनमाला, जोरइ मनहुँ अकास-पताला;
बिस्वरूप बड़ अचरजु-गेहा; पटतरि जाइ न, एहि सम एहा।
एहिकर सूझइ ओर न छोरा; नृपति, प्रबोध करउँ किमि तोरा ?
दिनकर सहस उएँ एकबारा, होय गगन जस जोति - पसारा,
सोउ करि सकइ न सरिबरि तासू, हरि-तन जस जगमगइ प्रकासू।
तहँ देवाधिदेव तन माहीं, पार्थ लखेउ सब जग एक ठाहीं,
बिलग-बिलग जग के बहु रूपा, सब महुँ एकु अभिन्न, अनूपा।

सोरठा

अदभुत प्रभु कहुँ पाइ, बिसमित दृग, पुलकित हिये,
सनमुख सीसु नवाइ, अरजुन बोलेउ जोरि कर—

चौपाई

"देखहुँ बिस्वरूप तोहि, नाथा; बारंबार नवावहुँ माथा;
देव सकल तव देह बसाहीं, सब जड़-चेतन जे जग माहीं।
चतुरानन कमलासन साजे, पंचानन हरिचर्म बिराजे,
रोम-रोम रिषि ध्यान लगाए, रग-रग दिब्य उरग उरिझाए।
देखहुँ अगनित मुख, श्रुति, नैना, अगनित उदर, चरन, कर सैना;
बिस्वेस्वर, तव रूप अमाना; नहिं तव आदि, मध्य, अवसाना।

अगनित चक्र-गदा कर धारा; अगनित सीस किरीटि सँवारा;
रोम-रोम सन उठि-उठि ज्वाला, गगन चढ़इ जिमि बिद्युत-ब्याला ।
कोटिक सूर उएँ एक साथा, होइ न अस दुति, अग-जग-नाथा;
दृग नहिं देखि सकहिं तव रूपा; तुम्ह सम तुम्हहि, अनन्य, अनूपा ।
अजनित, अब्यय, अच्छय, स्वामी, सृष्टि समग्र थमी तव थामी;
सास्वत धर्म थपा तव थापा; तव रुख बिनु लघु तिनहुँ न काँपा ।
जानै जोग एक तुम्ह, साईं, बारंबार नमहुँ तोहि पाईं ।
आदि न मध्य न अंत तुम्हारा, अगनित भुजन्ह अमित बल धारा;
आनन-आनन रबि-ससि नयना, काल बिलोकहि जिन्हकर सयना;
अगनित मुख उगिलहिं बन दावा, बिस्व तपइ तव तेज तपावा;
दस दिसि अधर, अकास, पतारा, ब्यापि रहा एक रूप तुम्हारा ।
तोहि अस अदभुत उग्र निहारी, काँपहिं लोक, लोकपति भारी;
देखहुँ बहुतक सुर समुदाई, प्रबिसहिं तोहि महुँ सीसु नवाई;
गिड़गिड़ाहिं कोउ-कोउ भयभीता, जोरे दुहुँ कर परम बिनीता ।

दोहा

बहुतक सिद्ध, महर्षि, मुनि 'स्वस्ति, स्वस्ति' चिचिआहिं;
बहुतक बहु अस्तुति करहिं, तुम्हहि सराहि, सराहि ।

चौपाई

ग्यारह रुद्र, अदिति सुत बारा, बसु, बिस्वसु, अस्विनी कुमारा,
पितर-समूह, मरुत-परिवारा, देव-दनुज-दल, जच्छ-कतारा, ६०
सिद्ध, साध्य, किंनर, गंधर्बा, चकित-नयन देखहि तोहि सर्बा !
देखि-देखि तव रूप बिराटा, बहु श्रुति, मुख, दृग, नाक, ललाटा,
कर, पद, जानु, उदर सुबिसाला, बहु दंष्ट्राल गाल बिकराला,
काँपइ त्रिभुवन बारहिं बारा; काँपहु हौहुँ अबल, असहारा ।
देखि-देखि तव रूप अनेका, दिब्य, दिब्यतर एक तें एका,
दीपित, दीर्घ छपें आकासा, बिस्फारित लोचन, मुख, नासा,
बार-बार मन मोर सँकाई, थिर न रहै मति, धीर पराई ।
देखि-देखि तव दंष्ट्र कराला, मुख-निर्गत कालानल-ज्वाला,

दिसि न दिसहिं, सुख-सांति सिराई; त्राहि, पाहि अब मोहिं, गोसाईं।
देखहुँ प्रबिसहिं तोहि महुँ, नाथा, कुरु-सुत सब नरपालन्ह साथा;
भीष्म, द्रोन, कुरु-बंस-पुरोधा, कर्न, स्वपच्छहु के बहु जोधा।
सब द्रुत गति प्रबिसहिं तव गाला, दंष्ट्रावलि बिजड़ित बिकराला;
केतिक रुंड-मुंड होइ पीचा, अटके दंत - दरारन्ह बीचा।
दिसि-दिसि उमगि नदी जिमि धाई, अंबुधि महुँ प्रबिसहिं असहाई,
तिमि ए सब नरलोक-जुझारा, प्रबिसहिं तव मुहु अगिनि-प्रजारा।
जेहि बिधि कीट-सलभ समुदाई, होहिं भस्म लौ मध्य समाई,
तेहि बिधि तव मुख-ज्वाल मझारी, झपटि-झपटि झुरसहिं नर भारी।
ज्वाल-जिह्व, तुम्ह लोकन्हि चाटी, कचरि, चबाइ उतारहु घाँटी,
तेजोमय, तव तेज तपावा, तपइ समग्र जगत जिमि आँवाँ।

दोहा

अदभुत - उग्र - सरूप, तोहि पूछहुँ सीसु नवाय, ८०
का हहु, काह करन चहहु, कहहु मोहिं समुझाय।
आदि रूप, तव रीति, रुचि, रुख नहिं मोहिं बुझाय,
तुम्ह कहुँ, प्रभु, जाना चहहुँ, देहु जो मोहिं जनाय।"

सोरठा

संकुल-कुरु-कुल-कंत, अरजुन कइ असि बिनय सुनि,
पुनि-पुनि कंपि दिगंत, गगन गिरा गंभीर भइ।

चौपाई

"काल होउँ मैं, सुनु, कपिकेतू; बाढ़ेउँ लोक - बिनासन हेतू;
बेगि करहुँ इन्ह सब कर नासा, अब नहिं प्रतिपच्छिन्ह कइ आसा।
जे मम निर्मम काल निहोरे, ते न बँचिहिं बिनु मारेहु तोरे;
उठु, अरि-दल दलु, अस जियँ धारी; कीरति लहि, रजु राज सुखारी।
पहिलेहिं तव रिपु, सुनु, कपिकेतू, मोर हता, तैं बनु बस हेतू;
भीष्म, द्रोन, कुरु-बंस-पुरोधा; कर्न, जयद्रथ, औरउ जोधा,
मोर हते सबु; इन्हहिं प्रचारी, रन करु, दरु, सब सोकु बिसारी;
मोर बचन सुनु, तोहि डरु नाहीं, तोर बिजय निस्चित रन माहीं।"

कुरुपति, सुनि असि केसव-बानी, पार्थ कँपेउ पुनि-पुनि भय मानी;
सीसु नवाइ बहोरि-बहोरी, गदगद कंठ कहेउ कर जोरी,
"सब प्रकार यह उचित, गोसाईं, जग हरपइ तव कीरति गाई;
दानव सुनि तव नाउँ डेराहीं; दिसि-बिदिसिहु महुँ भभरि भगाहीं।
सिद्ध नवावहिं तव पद सीसा; नाउँ निरंतर जपहिं मुनीसा,
बिधिहु सृजहु तुम्ह, अग-जग-नाथा, कस न धरैं सबु तव पद माथा?
अंत कतहुँ नहिं कबहुँ तुम्हारा, तुम्हहि त्रिलोक, त्रिकाल अधारा; १००
तुम्ह सत, असत, नाथ, तुम्ह सोऊ, जो दुहुँ ऊपर अच्छर होऊ।
आदि देव, तुम्ह पुरुष पुराना; तुम्ह जगती के परम निधाना;
ग्याता-ग्येय तुम्हहि पर धामा, अगनित रूप, अगिनतिहि नामा;
लघु - दीरघतम जो जहँ जाना, सब महुँ तुम्हहि रमहु, भगवाना।

दोहा

बायु, बरुन, जम, अगिनि, ससि, बिधि तुम्ह बिस्वाधार;
बिधिहु बिधाता; तुम्हहिं मम नमन हजार-हजार।

चौपाई

नाथ, अनंत-बीर्ज तुम्ह अहहू; अमित सक्ति अगनित कर बहहू;
सूत्र सदा तुम्ह सब कर गहहू; सब महुँ रमि, तुम्ह सब कछु अहहू;
नाथ, नमहुँ तोहि आगें-पाछें, नाथ, नमहुँ सब दिसि तें आछें।
अच्युत, अप्रमेय, भगवाना, रहि तव महिमा ते अग्याना,
'जादव','कृष्न','सखा,' पुनि तोही, कहेउँ जो प्रेम - प्रमाद बिमोही,
बैठत - उठत, अहार - बिहारा, करत - करावत काजु - कवारा,
पाइ अकेल कि बहु जन साथा, समुझि तुम्हहिं नर-तन-धर, नाथा,
करेउँ जो अचगरि, अनुचित बाता, छमहु सबहिं, आरत-जन-त्राता।
जगत-पिता, तुम्ह अमित-प्रभावा; तुम्ह सचराचर बिस्व बनावा;
तुम्हहि जगत-गुरु, ग्यान-खजाना; सब - जग - बंदित, परम प्रधाना;
तुम्ह सम त्रिभुवन महुँ नहिं कोऊ, तुम्ह तें बाढ़ि कहाँ पुनि होऊ?
नमि, समर्पि चरनन्ह महुँ काया, बिनवउँ तोहिं, करहु, प्रभु, दाया;

पितु, जिमि सुत,प्रिय, प्रानपियारी, हितु, जिमि हितु कर, जन-हितकारी,
अवगुन चित महुँ धरइ न काऊ, धरहु न मोरहु, मृदुल - सुभाऊ ।
देखि - देखि तव महदाकारा, जस कोउ कबहुँ न देखै पारा,
बार-बार पुलकउँ, सुर-साईं, तदपि न भीति हिये तें जाई ।
तातें बिनय करउँ कर जोरी, आपुनु बिस्व - सरूप सकोरी,
होहु चतुर्भुज रूप, गोसाईं, मोर बिकल मन थोर थिराई;
मोर-मुकुट-छबि-मंडित भाला, कटि पीतांबर, उर बनमाला,
चक्र-गदा जुग भुज महुँ धारा, संख-पदुम जुग हाथ सँवारा ।"

दोहा

देखि धनंजय बिकल-मन, बिसमित, भ्रमित, भुलान,
भीत, चरन-लुंठित, भगति-द्रबित कहेउ भगवान—

चौपाई

"होइ प्रसन्न तोहि पर, कपिकेतू, आपुनु जोग - बिभव करि हेतू,
जो प्रगटेउँ निज रूप निराला, तेजोमय, नभ सदृस बिसाला,
आद्य, अनन्य, अनंत - प्रभाऊ, सो कोउ दीख, सुना नहिं काऊ ।
बेद पढ़ेहु, बहु जग्य रचाएहु, सास्त्र पठन महुँ बुद्धि पचाएहु,
करेहु कठिन तप, दान अपारा, धर्म, कर्म, ब्रत बिबिध प्रकारा,
तोहि तजि कोउ नहिं एहि संसारा, देखि सकै अस मोर प्रसारा ।
रूप मोर अति घोर निहारी, होइ न तोहि जेहिं बिसमय भारी,
रूप चतुर्भुज प्रगटउँ आगें, देखु मुदित मन अपडरु त्यागें ।"
अस कहि जगदाधार, भुआला, बिष्नु भए तजि बपु बिकराला;
पुनि निज सहज सरूप बनावा; अरजुन कहुँ बहु बिधि समुझावा ।
अरजुन बोलेउ, "कृष्न मुरारे, सौम्य मनुज-तन तुम्हहिं निहारें,
सुस्थिर मोर भए पुनि प्राना; मैं पुनि अपने कहुँ पहिचाना ।"
बासुदेव सुनि कहेउ, नरेसा, "अरजुन मोर चतुर्भुज बेसा,
जाकहुँ तैं भरि नैन बिलोका, दुर्लभ परम तिकाल, तिलोका;

देवहु सोइ मूरति उर राखे, रहहिं सदा दरसन - अभिलाषे।
बेद पढ़ेहु, मख-दान करेहू, तपेहु कठिन तप, ध्यान धरेहू,
कोउ नहिं मोहि अस देखै पारा, जस तैं मोर सरूप निहारा।
चौभुज रूप मोर मन - राचा, सोइ देखइ, सोइ जानइ साचा,
सोइ प्रबिसइ भव-बंधन तोरी, भगति अनन्य करइ जो मोरी।
बयरु-प्रीति सब ही सन त्यागी, जो सब कर्म करत मोहि लागी,

दोहा

जो मम भगत, जो मग चलत, लच्छ एक मोहि मान,
अरजुन, तैं निस्चय समुझु, सो मोहि माझ समान।" १५०

•

बारहवाँ अध्याय

सोरठा

सुनि अनन्य कै रीति, गुनातीत भगवंत सन,
पूछेउ पार्थ सप्रीति, प्रस्न मथत जो भगत-मन—

चौपाई

"भजहिं मानि तोहि जे, सुरभूपा, नित्य, चतुर्भुज, सगुन - सरूपा,
भजहिं जे तोहि कहि अलख, अनूपा, निरगुन, अब्यय, अच्छय रूपा;
दोउन महुँ मोहि कहहु, मुरारे, जोग-मरमु को जाननिहारे?"
अरजुन कै दुबिधा पहिचानी, बोलेउ हरि निर्नयकर बानी,
"कुंति-सुवन, मोहिसन चित लाई, मन महुँ श्रद्धा - भगति बसाई,
मोहि अबिराम भजइ जो कोई, सो जोगिन्ह महुँ उत्तम होई।
इंद्रिन्ह कहुँ संजम सन साधी, बुद्धि राखि सब - द्वंद - अबाधी,
उर धरि मोहि, ध्रुव-ब्यापक-रूपा, नित्य एकरस, अचल, अरूपा,
ग्यान-गिरा - गोतीत, अमाना, अज, अब्यय, अच्छय भगवाना,
जो सब कर हित कर जग माहीं, सोउ निस्चय आवइ मोहि पाहीं।
पै निरगुन नहिं सहज धराई, गहत अरूप बहुत कठिनाई;
पुनि जेहि दस-दिसि घेरै खेहा, देखै केहि बिधि अलख, अदेहा।
जे मोहि महुँ आपुन चित लाई, जोग जुगुति मोहि भजहिं सदाई,
जे सब कर्म करहिं मोहि लागी, मोहिं समरपहिं, फल-रुचि त्यागी,
मैं तिन्ह कहुँ, करि द्रुत उद्धारा, पहुँचावहुँ भव - सागर पारा।

दोहा

अरजुन, मोहि महुँ बासि बुधि, राखि मोंहि मन मांहि,
ते मोहि महुँ निवसहिं सतत, एहिं महुँ संसय नांहि।

चौपाई

जौं मन तोर न मोहिं थिराई, तोहिं कहहुँ मैं अपर उपाई; २०
करु अभ्यास बाँचि, सुनि, गाई, मोर चरित, गुन, रीति, बड़ाई।
जो अभ्यासहुँ नहिं करि जाई, तोहिं कहहुँ मैं अपर उपाई;
तें करु कर्म सकल मोहि लागी, तोकहुँ सिद्धि मिलिहि, बड़भागी।
जौं तोहिसन एहु नहिं करि जाई, तौ करमन्ह - फल सकल बिहाई,
तें करु निज मन पर अधिकारा, तैं गहु मोर जोग आधारा।
अभ्यासोपरि ग्यान बखाना, ग्यानोपरि हरि-ध्यान, सुजाना;
ध्यानोपरि करमन्ह-फल-त्यागा, त्याग तें सांति मिलइ, सुखभागा।

दोहा

जो सब कें प्रति द्वेष तजि, करुन सबन्ह प्रति होय,
मीत होय जो सबन्ह कर, ममता मन तें धोय;
छमावान रहि सबन्ह प्रति, अहंकार नहिं आन,
जोग-जुक्त जो नित समुझ सुख-दुख एक समान;
इंद्रिन्ह कहँ संजमित करि, दृढ़ निस्चय उर आनि,
जो समान संतुष्ट रह, लाभ होउ कै हानि;
जो निज बुद्धि समर्पि मोहि, मन महुँ मोंहि थिराहि,
मोर भगत रह सर्बदा, समुझु मोर प्रिय ताहि।

चौपाई

जो उदबेगइ नहिं संसारा, जेहि जग नहिं उदबेगइ पारा,
हर्ष, भीति, इरिषा नहिं जाही, समुझु मोर प्रिय, अरजुन, ताही।
जो गत-दुःख, बिगत-प्रत्यासा, जो तन-मन सुचि, दच्छ, उदासा,
कर्मारंभ - दंभ नहिं जाही, समुझु मोर प्रिय, अरजुन, ताही।

राग-रोष नहिं जेहि पर छावा, जेहि नहिं चाह न जेहि पछतावा, ४०
कर्म सुभासुभ छाप न जाही, समुझु मोर प्रिय, अरजुन, ताही ।
सत्रु-मित्र जेहि एक समाना, एक समान मान - अपमाना,
आतप-हिम, सुख-दुख सम-जाही, समुझु मोर प्रिय, अरजुन, ताही ।
संग-मोह जेहि नहिं समुहाना, अस्तुति - निंदा जो सम जाना,
जासु बिचार-बचन भल सासा, जाकर थिर बुधि, अस्थिर बासा,
जो जेहि-तेहि बिधि देह-निबाही, समुझु मोर प्रिय, अरजुन, ताही ।

दोहा

श्रद्धाजुत मोहि परम गति मानि, धरे हिय मोहिं,
जे मम धर्मामृत पिअहिं, ते अतिसय प्रिय मोहिं ।" ४८



तेरहवाँ अध्याय

दोहा

हरि कें निर्नयकर बचन सुनि, अस बोलेउ पार्थ,
"पुरुष-प्रकृति कर भेद कहि, प्रभु, मोहि करहु कृतार्थ।

चौपाई

नाथ, छेत्र का ? कहहु बुझाई; को छेत्रग्य कहा जग जाई ?
केसव, मोहिं कहहु का ग्याना ? को पुनि ग्येय ? कहहु भगवाना!"
अरजुन - जिज्ञासा अधिकानी जानि, कहेउ हरि सरबग्यानी,
"सुनु, कपिकेतु, छेत्र यह देहा; सो छेत्रग्य जो जानइ एहा।
सब छेत्रन्ह महुँ जाननिहारा, जो छेत्रग्य, सो मैं अबिकारा;
दोउन कहुँ जानब, मतिवाना, ग्यान आहि, मन मोर प्रमाना।
छेत्र काह ? कस ? तासु बिकारा आहिं काह ? कहँ नें बिस्तारा ?
जो छेत्रग्य, जो तासु प्रभावा, तोहि संछेपहिं चहहुँ सुनावा।
पार्थ, ग्यान यह बेद बखाना, बिबिध मंत्र - छंदन्ह महुँ नाना;
रिषिन्ह कहा सोइ बहुत प्रकारा; ब्रह्मसूत्र सोइ सत्य प्रचारा;
तत्त्व-तत्त्व विधिवत बिलगावा; जुक्ति-जुक्त परिनाम सुझावा।
मैं सोइ तोहिं कहहुँ समुझाई, पार्थ, श्रवन करु ध्यान लगाई।

दोहा

प्रथम कहेउँ अब्यक्त जो अबल, अहं कर भान,
बुधि, मन, इंद्रिय, पाँच रत कर्म, पाँच रत ग्यान;

चौपाई

सब्द, रूप, रस, परसन, बासा; छिति, जल, पावक, पवन, अकासा;
चेतनता, धृति, पुनि संघाता; इच्छा, द्वेष, दुःख, सुख, ताता;
आहिं सकल ए छेत्र - बिकारा; ए मिलि करहिं छेत्र बिस्तारा।
अरजुन, रहब अदंभ, अमानी; केहु बिधि, केहुकर करब न हानी;
छमब; सरल राखब मन-बानी; पूजब गुरु कहँ गोबिंद जानी;
राखब इंद्रिन्ह कहँ बस माहीं; राखब तन - मन सुद्ध सदाहीं;
धारब अंतर महँ दृढ़ताई; भोग तें रहब सदा अलगाई;
निरहंकार रहब सब काला; आहिं जे देह - जनित दुख जाला,
सब महँ समुझब मर्त्य सुभाऊ; सुत, दारा, गृह, बित महँ काऊ
निरत न होब, न राखब मोहा; आवइ दुःख कि सुख संदोहा,
राखब चित कहँ थिर, मम रूपा; भजब जोग बिधि मोहिं अनूपा,
निरभिमान होइ, रहि निहकामा; सब तें अलग करब निज ठामा,
जन-संकुल थल तें मन टारी; नित अध्यातम ग्यान मझारी,
बूड़ रहब; निरखब जग जामा तत्त्व-ग्यान कर ध्रुव परिनामा—
आहिं ग्यान सबु, समुझु सुजाना; जो बिपरीत, समुझु, अग्याना।

दोहा

अरजुन, ग्यान बुझाइ तोहि, समुझावहुँ तोहि ग्येय,
जाहि तत्त्व तें जानि नर, अमर परम पद लेय।

चौपाई

परम ब्रह्म सो आदि-बिहीना, सो न असत, सत सब्द अधीना;
सो एहि भाँति रमा जग माहीं, सर्ब समय, सब महँ, सब ठाहीं,
ताकर आनन, मुख, दृग, नासा, श्रवन, सीस, कर, पद चहुँ पासा।
अरजुन, सो नहिं इंद्रिय-धर्मा, पै जानइ सब इंद्रिय - कर्मा;
पालइ, पोषइ सब संसारा, छुअइ न तेहि आसक्ति - बिकारा;
कुंति-सुवन, सो सब-गुन-भोगी, पै निरगुन रहि, जानहिं जोगी;
जड़-चेतन महँ सोइ बिराजा; सोइ सब कें बहिरंतर छाजा;
सोइ अस बड़ मनहूँ न समाई; सोइ अस लघु नहिं परइ जनाई;

सोइ अस दूरि न दीसइ छाहीं; सोइ अस पास पुनरियन्ह माहीं;
अस अबिभक्त छपाइ अकामा; अस अनु-अनु महुँ पूरन भासा;
सोइ ग्येय, जग-उदभव कारी; सोइ जग-पालक, सोइ संघारी;
सोइ तमारि महा, तम पारा; सोइ जोतिन्ह महुँ जोति-प्रसारा;
ग्यानगम्य सोइ, ग्यान-प्रकासा; सोइ सबकें उर करइ उजासा।

दोहा

संछेपहिं तोहि सन कहेउँ छेत्र, ग्येय अरु ग्यान;
जो तिन्हकहुँ जानइ, समुझु, सो मोहि माझ समान।

चौपाई

पुरुष - जीव - छेत्रग्य, अजाता; प्रकृति, अनादि, त्रिगुन-संघाता।
जे बिकार-गुन जग पर छाए; अरजुन, जानु, प्रकृति उपजाए।
तन, तन-तत्त्व प्रकृति उपराजे; सुख-दुख - भोग पुरुष के काजे।
पुरुष, प्रकृति महुँ थित जब होई, प्रकृति-जनित गुन बाँधहिं सोई;
तेहि कारन होइ त्रिगुन-बिकारी, जनमइ सदसद जोनि मझारी।
पुरुष, प्रकृति महुँ थितहु, सुजाना, निरासक्त, भोक्ता, अरगाना,
धरता, उपद्रष्टा, अनुमंता, परमेस्वर, निरगुन, भगवंता।
जो अस पुरुष परम करि जाना, त्रिगुन समेत प्रकृति पहिचाना,
सो सब कर्म करत जग माहीं, कबहुँ जगत महुँ जनमत नाहीं।
आपु तें आपुहि महुँ धरि ध्याना, कोउ अवलोकइ पुरुष प्रधाना,
ग्यान-जोग बिधि कोउ लख सोई, कोउ निहकाम कर्म-रत होई।
जे अनजान ते औरन पाहीं, सुनि, गुनि पूजन-भजन कराहीं; ६०
श्रद्धा जुत, केहु बिधि, कोउ ध्यावा, अवसि लहा भव-बारिधि नावा।

दोहा

छेत्र तथा छेत्रग्य कर संजोगन सोइ हेतु,
जेहि करि जग जनमहिं सकल जड़-जंगम, कपिकेतु।

चौपाई

नस्वर जड़-जंगम जग माहीं, जो अबिनस्वर दीख सदाहीं,
कुंति-सुवन, सुस्थिर, सम-भावा, सो निज लोचन-लाभ उठावा।

जो सरबेस्वर कहुँ सब माहीं, देखइ सम, सर्बत्र, सदाहीं,
सो नहिं बनइ निजात्मक घाती, जिग्रइ, लहइ ग्रमरन्ह कइ थाती ।
करतापन कर तजि ग्रभिमाना, जो सब कर्म प्रकृति-कृत जाना,
दीख स्वगुन महुँ प्रकृति-प्रभावा, सो निज लोचन-लाभ उठावा ।
बिलग-बिलग जग-रूपन्ह माहीं एक रूप जो दीख सदाहीं,
दीख एकु महुँ बहु बिस्तारा, पूरन ब्रह्म सो उर महुँ धारा ।
ग्रादि-रहित, निरगुन, ग्रबिनासी, ब्रह्म भएहु नर-तन-ग्रधिवासी,
करमहु करत करइ नहिं काऊ; छुग्रइ न ताकहुँ कर्म-प्रभाऊ ।
जेहि बिधि ब्यापक, सुन्न ग्रकासा कहुँ कोउ छुग्रइ न करि तहँ बासा,
तेहि बिधि निरगुन, देह-निवासी, कहँ छुइ सकइ न तन-गुन-रासी ।
जिमि एकइ रबि उग्रइ ग्रकासा, पै सब जग कहुँ करह उजासा,
तिमि एकइ छेत्री कर तेजा, सब छेत्रन्ह कहुँ करह सतेजा ।

दोहा

भेद छेत्र - छेत्रग्य कर, प्रकृति-पास-निस्तार,
ग्यान-चच्छु परतच्छ जेहि, सोइ पावइ भव-सार ।" ७६



चौदहवाँ अध्याय

सोरठा

सुनि हरि कर आख्यान, ध्यान-मग्न अरजुन भयउ,
बोलेउ पुनि भगवान, ग्यान-ग्येय दुहुँ एक महुँ—

चौपाई

"सुनु, अब तोहिं कहहुँ, मतिवाना, ग्यानन्ह महुँ सरबोत्तम ग्याना,
जेहिं मुनि जन भव-बंधन टारी, होहिं परम सिधि के अधिकारी।
कुंति-सुवन सोइ ग्यान सहारे, साधक मोर सरूप सम्हारे,
सृष्टि-समय नहिं जनमहिं जाई, प्रलयँ न जानहिं चित-बिकलाई।
अरजुन, जोनि, प्रकृति गुन-खानी; परम पुरुष मैं, गर्भाधानी;
जब संजोगहिं जुगल, सुजाना, जनमहिं जावत जीव जहाना।
अरजुन, अगनित जोनिन्ह माहीं, जे अगनित आकार धराहीं,
गुनमय प्रकृति सबन्ह कै माता, पितु मैं चेतन बीज-प्रदाता।
प्रकृति-जनित सत, रज, तम एहा बाँधहिं अब्यय जीवहिं देहा।
अरजुन, सत निरमल गुन आही, तिमिर-बिकार न ताहि सोहाहीं,
तदपि ग्यान-सुख-मोह बँधावा; बाँधब गुन कर सहज सुभावा।
अरजुन, राग रजोगुन माहीं; लोभ-लाभ-रुचि सिरजहिं ताही;
कर्म, कर्म-फल-मोह बँधावा; बाँधब गुन कर सहज सुभावा।
तम, सब तनधारिन्ह-प्रिय जाना; अरजुन, ताहि सृजइ अग्याना;
आलस, नींद, प्रमाद बँधावा; बाँधब गुन कर सहज सुभावा।

दोहा

सत, सुख महुँ ; रज, कर्म महुँ, अरजुन, देत लगाय,
ग्यान गोपि, तम नरन्ह कर देत प्रमाद बढ़ाय।

चौपाई

उभरइ सत, रज-तम कहुँ दाबी, दरि तम-सत, रज करइ नबाबी,
उनवइ तम, सत-रज कहुँ जीती; अरजुन, करु मन असि परतीती।
अरजुन, जब सब देह दुआरा उँजिअर होहिं अनेक प्रकारा,
सहज गहइ मन ग्यान प्रगाढ़ा, तब अस जानु सतोगुन बाढ़ा।
अरजुन, बढ़इ रजोगुन जबहीं, बहु बिधि चाह चढ़इ मन तबहीं;
कर्मारंभ दंभ जगि जाई; चंचल चित चहुँ दिसि ललचाई।
अरजुन, बढ़इ तमोगुन जबहीं, अँधिअर छापइ तन-मन तबहीं;
रहइ अहर्निसि अँग-अँग माँदा; घेरइ आलस, नींद, प्रमादा।
अरजुन, जो निज तन तब त्यागइ, जब मन माझ सतोगुन जागइ,
सो पावइ अस दिब्य सुलोका, जहँ निवसहिं सुर, सुकृत, बिसोका।
अरजुन, जो निज तन तब त्यागइ, जब मन माझ रजोगुन जागइ,
सो जनमइ निज प्रकृति-प्रचारा, करमासक्तन्ह कें परिवारा।
अरजुन, जो निज तन तब त्यागइ, जब मन माझ तमोगुन जागइ,
सो जनमइ परबस, असहाई, मोह-जड़ित पसु-जोनि समाई।

दोहा

अरजुन, सत बर बिरिछ कर फल, निरमल सुख-ग्यान,
रजकर, कर्मज दुःख फल ; तम कर फल, अग्यान।

चौपाई

अरजुन, सत गुन ग्यान जगावा; रज, निःसंसय लोभ लगावा;
उपजावा तम गुन अग्याना, मोह, प्रमाद, समुझु, मतिवाना।
ऊपर जाहिं सतोगुन धारी, जे रज-गुन-प्रिय रहहिं मझारी,
नीचे गिरहिं तमोगुन-खींचे; अरजुन, ए नर जिअतहु मीचे।
जब परखइ सब करमन्ह माहीं गुन-करतब तजि दूसर नाहीं,
जानइ त्रिगुनातीत अनूपा, तब नर पावइ मोर सरूपा।

देह-जनित गुन तीनि तोराई, जन्म, जरायु, मरन दुखदाई
तें नर पावइ जब परित्राना, तब जिअ्र करइ अमिअ्र रस पाना।"
सुनि अस हरि सन, कुरु-कुल-राई, अरजुन पूछेउ, सीसु नवाई,
"जे नर त्रिगुनातीत कहाहीं, का तिन्ह कें सुभ लच्छन आहीं?
राखहिं कस आचार-बिचारा? केहि बिधि लहहिं गुनन्हि छुटकारा?"
कुरु-कुल-दीपक, जदु-कुल-राई बोलेउ ग्यान गिरा मुसुकाई,
"अरजुन, मोह, प्रवृत्ति, प्रकासा, देहिं जे तम, रज, सत कर भासा,
जेहि तिन्हकें प्रगटें न हरासा, जेहि तिन्हकें बिघटें न हुलासा;
जो रहि सुस्थिर, अडिग, उदासा, देखइ त्रिगुन-प्रकृति कर पासा;
देखइ बिंबित निज गुन माहीं, अरजुन, त्रिगुन-प्रकृति परिछाहीं,
कुंति-सुवन, जो आत्म-समाना; जो दुख-सुख दोउ सम करि जाना;
भेद न जेहि प्रिय-अप्रिय माहीं; कंचन - कंकर अंतर नाहीं;
अस्तुति - निंदा एक समाना; एक समान मान - अपमाना;
हित-अनहित कर पच्छ न जाही; कर्मारंभ - दंभ जेहि नाहीं;
जो सुस्थिर, संतुलित सदाहीं, त्रिगुनातीत कहहिं बुध ताही।

दोहा

भगति-जोग बिधि नित भजइ, निरभिमान, निहकाम,
जो मोहि, त्रिगुनातीत होइ, लहइ ब्रह्म-बिश्राम।
अब्यय ब्रह्म जो, सुद्ध सुख, सतत अमिअ्र कै धार,
सास्वत धर्म जो, एक रस, मैं सब कर आधार।" ६०

●

पंद्रहवाँ अध्याय

सोरठा

अरजुन कहुँ, मतिधीर, बर अधिकारी समुझि, हरि
दीन्हेंउ ग्यान गँभोर, एक बिचित्र प्रतीक सन।

चौपाई

"अच्छय बिरिछ जाइ एक भाषा, जो ऊर्ध्वंग-जरि, निम्नग-साखा;
जामहुँ बेद लगहिं जिमि पाता; जो जानइ तेहि, सो बड़ ग्याता।
जब सींचइ तेहि त्रिगुन-त्रिधारा, डार करहिं चहुँ दिसि पइसारा,
अंकुर पंच बिषय कर धारी; अरजुन, मूलहु फूटि बिकारी,
लटकि, धँसइ मानुस-जग माहीं, जहँ नर-कर्म दृढ़ावहिं ताही;
ते अच्छय बर घेरहिं घोरा; दीसइ ताकर ओर न छोरा;
सूझइ नहिं ताकर आधारा, बूझइ नहिं आकार - प्रकारा।
कुंति-सुवन, अस हृदय बिचारी, यह दूसर बड़ बिकट बिकारी,
जाकरि जरि ममता संसारी, काटै नर दृढ़ बिरति - कुठारी।
पुनि खोजै सोइ परम अनंता, जेहि लहि बहुरहिं कबहुँ न संता,
आदि पुरुष रुख सोइ निहारी, सृष्टि सनातन जासु प्रसारी।
धरेउ न जो उर मोह न माना, भयउ न संग-असंग देवाना,
जो मन ब्रह्म-सरूप रमावा, काम - बिकार निसारि नसावा,
जाहि न सुख-दुख द्वंद सतावा, अरजुन, सोइ अमर पद पावा।

दोहा

करि सक पावक, चंद नहिं, रवि नहिं जाहि अँजोर,
जाहि पाइ कोउ फिरत नहिं, सोइ परम पद मोर।

चौपाई

कुंति-सुवन, जो घट-घट-बासी, मोरइ अंस जीव अबिनासी;
सोइ खींचइ मन, प्रकृति-अधारी, पाँच ग्यान - इंद्रिन्हि अनुहारी।
जीव गहइ, त्यागइ जब देहा, तब लेइ जाइ छहुन कहुँ गेहा,
गंधवाह जिमि सुमनन्ह पाहीं, गंध उड़इ, लेइ सहज सदाहीं।
जीव तिन्हहिं महुँ पाइ सुपासा, देखइ, सुनइ, सँजोवइ बासा,
छुअइ, करइ बहु बिधि रस पाना; बिनइ गुनन्ह कर ताना-बाना।
जीवहिं करत सरीर-सँजोगा, करत त्रिबिध बिषयन्ह कर भोगा,
तजत बसन जस देह पुरानी, मूढ़ न देखहिं, देखहिं ग्यानी।
जोगिहु बहु जब जतन कराहीं, देखहिं जीवहिं अंतर माहीं;
अरजुन, अबुध असाधु, गँवारा, जतन किएहुँ, नहिं देखै पारा।
तेज करइ जो अगिनि उजासा, तेज करइ जो ससि महुँ बासा,
तेज करइ जो सुरुज अँजोरा, अरजुन, ताहि समुझु तैं मोरा।
अवनि प्रबिसि, निज ओज सहारे, सब जड़-जीव रहहुँ मैं धारे;
मैं, ससिकर सन रस बरसाई, देहुँ बनस्पतियन्ह पलुहाई।

दोहा

बैस्वानर बनि देह महुँ, प्रान-अपान अधार,
अरजुन, पचवहुँ नित्य मैं भोजन चारि प्रकार।

चौपाई

कुंति-सुवन, मैं घट-घट-बासी, मैं सुधि-बुधि-प्रद, सुधि-बुधि-ह्रासी;
बेद करहिं बहु भाँति बिधाना, जानै कहुँ मोहि ग्यान-निधाना;
एकु महीं बेदांत - बिधाता; एकु महीं बेदन्ह कर ग्याता।
पुरुष अहहिं जग जुगल प्रकारा; एक छर, एक अच्छर निरधारा;
छर, चर-अचर अथिर आकारा; अच्छर, जीव अडिग उच्चारा।
दुहुँ पर पुरुषोत्तम एक आना, अब्यय, ईस्वर, ब्रह्म बखाना;
सोइ प्रबिसि तिहुँ लोकन्ह माहीं, सब कर पोषन, भरन कराही।
अरजुन, मैं छर-जगत-अतीता, अच्छर जीवहु तें न ग्रहीता;

तेहि क. न त्रिभुवन, श्रुति चारी   मोहि पुरुषोत्तम कहहिं पुकारी ।
कुंति-सुवन, जे बुध अबिमोही,   पुरुषोत्तम करि जानहिं मोहीं;
मोहिं भजहिं नित-मन-क्रम-बानी;   जे अस करहिं ते बुध बड़ ग्यानी ।

दोहा

मोर कहा, तव संग्रहा, ग्यान गुह्यतम, पार्थ,
जो सुनि समुझइ, आचरइ, होइ प्रबुद्ध, कृतार्थ ।" ४७



सोरहवाँ अध्याय

दोहा

कुरु-पति, कृष्न, धनंजयहिं गुह्य ग्यान दरसाय,
दैवी, दनुजी संपदा समुझाएहु बिलगाय।

चौपाई

"निर्भय - निर्मल अंतर, ग्याना, जोग व्यवस्थित, मख, तप, दाना,
संजम, सास्त्र - पठन चित लाई, काय, बचन, मन कै सरलाई,
करब न केहुकर, केहु विधि हानी, उचरब सत्य समर्थित बानी,
करब न रोष, दरब अभिमाना, करब न केहुकर दोष बखाना,
गहब सुभाव - सुकोमलताई, तजब चपलपन, राग - रगाई,
करब दया सब पर बिनु हेतू, सुथिर, सुसील बनब, कपिकेतू,
धारब तेज, छमा अरु धीरा, समुझब अधम करम पर पीरा,
साधब तन-मन, रहब अमाना— दैवी संपद आहिं, सुजाना।
पारथ, दंभ, दरप, अभिमाना, क्रोध, कठोरपना, अग्याना—
ए तिन्हकर कहि जाहिं निसानी, दनुज सुभाव धरे जे प्रानी।
दैवी संपद मुक्त - करंता, दनुजी, भव - भय - पास दुरंता ;
दैवी बिभव बचावनिहारा; दनुजी बिभव नसावनिहारा।
सोचु न करु मन महुँ, मतिवाना, दैवी संपद तोहिं बिधाना।
जावत जीव जगत महुँ जाने, जाहिं सुरासुर बृत्ति बखाने।

सोरठा

देव - सुभाव - झुकाव - लच्छन गुन बरनन—किहेउँ;
अरजुन, असुर सुभाव, सुनु अब किछु बिस्तार सन।

चौपाई

जानत नाहिं दनुज - बृति जीया, का करनीय न का करनीया ;
राखत असुचि, असच ब्यवहारा, झूँठ बकत रखि झूँठ बिचारा । ३०
जगत, कहहिं ते प्रकृति-मलीना, असत, अनीस्वर, आश्रय - हीना,
नारि - पुरुष संभोग प्रजावा; तेहिं नर भोग भजै मनभावा ।
जे अस दृष्टि धरहिं, कपिकेतू, जनमहिं बिस्व बिनासन -हेतू ;
ते निःसंसय आत्म - बिघाती, ते जड़मति अति, बड़ उतपाती ;
उद्धत कर्म करहिं बिधि नाना; बिरचहिं पर अपकार बिधाना ;
ते मिथ्या सिद्धान्त बनाई, दंभ, दर्प, मद तें बौराई,
सब हद, सब मरजाद मिटाई, पारहिं भ्रष्टाचार अघाई ;
धारहिं चित अस चाह अपारा, मरेहि टरइ तिन्हकर गुरु भारा ;
रहहिं बिषय - रस - राग रँगाए, मनहुँ सकल जीवन - फलु पाए ;
सत - सत आसा - पास बँधाए, काम - क्रोध - मल मन लपटाए,
तन - सुख साज सजावन हेतू, अधरम - धन संचहिं, कपिकेतू ।
ते बोलहिं अहमिति अधिकाई, 'आजु कीन्ह यह लाभु कमाई ;
अपर मनोरथ पुरउब काली; जोरब धन, गृह, बाजि-गजाली ;
एतना संग्रह आजु हमारा; औरउ भरब भविष्य भँडारा ;
आजु एक रिपु आपुनु मारा; कालि अपर कर करब सँघारा ;
हम नायक, लायक, सुखभोगी, सबल, सफल, सब सिद्धि सँजोगी;
हम बहु धन, बहु परिजन वारे, हम सम दूसर नहिं संसारे ;
मोद मनाउब, करि मख दाना !' अरजुन, ए जड़ मति, हतग्याना ।

सोरठा

ए भव-फंद फँसाहिं, मोह - ग्रसित, चिंता-भ्रमित;
असुचि नरक महुँ जाहिं, ए नर कामी, बिषयरत । ४०

चौपाई

ए अभिमान - घमंड फुलाए, संपति - कीरति - मद बौराए,
जग्य रचावहिं धूम मचाई, सास्त्र बिहित बिधि खाख मिलाई,

मख कर नाम, प्रमुख निज नामा, अस अनुमानि करहिं सब कामा ।
जब अस रिस-बल-बाउल, कामी, अहमिति-मत्त, कुमारग - गामी,
निंदहिं अपर करहिं पर हाँसी, द्वेषहिं मोहि निज-पर-घट-वासी ।
जे नर निर्दय - पापाचारी, जे पर निंदक, पर अपकारी,
तिन्ह अधमन्ह कहुँ मैं एहि छोनी, पुनि-पुनि फाँसहु पासव जोनी ;
जन्म - जन्म इन्ह जोनिन्ह माहीं परि - परि ए नर मूढ़ भ्रमाहीं ;
मोहि भव-भ्रम-हर कहुँ नहिं पाई, घोर नरक महुँ प्रबिसहिं जाई ।
काम, क्रोध अरु लोभ दुआरा आहि नरक कें, आत्म-संघारा ;
जो चाहै सुख, छेम, भलाई, राखै बंद इन्हहिं बरिआई ।
जो खोलइ नहिं त्रय तम द्वारा, देखइ मंगल पथ उँजिआरा,
अरजुन, जापर पाँव बढ़ाई, पावइ मोर सरन सुखदाई ।
पारथ, सास्त्र-बिहित बिधि टारी, जे बिचरहिं निज मति अनुहारी,
ते नहिं सिद्धि सँवारहिं काऊ, पावहिं नहिं सुख, नहिं मम पाऊ ।

दोहा

कर्तब्याकर्तब्य महुँ तैं गहु सास्त्र प्रमान,
सास्त्र-सुसंमत आचरन रखु तैं, सास्त्र-सुजान ।" ५७

●

सत्रहवाँ अध्याय

सोरठा

साख्र महत्व, नृपाल, केसव-मुख सन श्रवन करि,
अरजुन कहेउ, "कृपाल, एक प्रस्न पूछउँ पुनः।

चौपाई

जे नर सास्त्र-बिहित बिधि टारी, ध्यावहिं निज श्रद्धा अनुहारी,
तिन्हकर का गति होइ, गोसाईं ? सत्त्व कि रज-तम, कहहु बुझाई।"
सुनि केसव बोलेउ मुसुकाई, "उत्तर सुनु,मति, मन, चित लाई,
जो श्रद्धा धारहिं तन - धारी, ताहि समुझु तैं तीनि प्रकारी;
मनुज - सुभाव तें जाइ सँजोई ; सात्त्विक, राजस, तामस होई।
जेहि बिधि जाकर अंतर होई, तेहि बिधि श्रद्धा लेइ समोई;
मानव श्रद्धा कर आगारा, मानव निज श्रद्धा साकारा।
अरजुन, जो नर सात्त्विक आहीं, देवन्ह के प्रति जग्य रचाहीं;
राजस, राकस - जच्छ पुजारी; तामस, भूत - प्रेत मनुहारी।
जे अभिमत-बल-बाउल, रागी, अहमिति-मत्त, सदंभ, दिमागी,
सास्त्र-बिहित बिधि तें अलगाई, तपहिं कठिन तप देह जराई।
अरजुन, बिसरहिं ते हतग्याना, बिघटहिं इंद्रिन्हि ग्यान-प्रधाना,
निदरहिं मोहि निज अंतरबासी; अस नर असुर-प्रकृति, अघरासी।

दोहा

त्रिबिध नरन्ह कर त्रिबिध जिमि श्रद्धा करेउँ बखान,
त्रिबिध कहहुँ अब सबन्ह कर भोजन, मख, तप, दान।

चौपाई

स्निग्ध, सरस, थिर, सहज-सुहावा, आयुर्बल, बुधि, तेज बढ़ावा,
रुचि-सुख-बर्द्धक, रोग - निवारा, सात्त्विक-प्रकृति करहिं आहारा।
अम्ल, लवन-संजुत, रस-रीता, तापक, तात बहुत, बड़ तीता,
रोग-जनक, दुख-सोक प्रसारा, राजस-प्रकृति करहिं आहारा।
कुपक, अपक, अधपक, रसहीना, दुर्गन्धित, दुःस्वाद, मलीना,
बासी, जूँठ, कुठौर पवारा, तामस-प्रकृति करहिं आहारा।
सास्त्र-बिहित बिधि, मन सुथिराई, जो करतव्य समुझि करि जाई,
जाकर फल चाहा नहिं जाई, सो जग सात्त्विक मख कहि जाई।
जो मख निस्चित लच्छ बनाई, निस्चित फल पर दीठि लगाई,
जाइ रचा गुरु गर्ब जनाई, सो जग राजस मख कहि जाई।
जो मख मंत्र, सास्त्र-बिधि हीना, अन्न-दान, दच्छिना परिछीना,
जाइ रचा श्रद्धा बिलगाई, सो जग तामस मख कहि जाई।
सुर, गुर, बुध, द्विज कर सत्कारा, सौच, सरल आचार-बिचारा,
ब्रह्मचर्ज ब्रत, हिंसा - त्यागा— ए सबु तन-तपु आहिं, सुभागा।
जेहि बच तें उदबेग न जागा, जो सब कहँ प्रिय, हितकर लागा,
जो सत, सास्त्र बिबेचन हेतू, ताहि बचन-तपु, गुनु, कपिकेतु।

दोहा

मौन, मनः सुख, सौम्यता, अंतःकरन-प्रसोध,
मन कर निग्रह, कुंति-सुत, मन-तपु; कर अस बोध।

चौपाई

तन, मन, बच तप तीनि प्रकारा, जाहि तपहिं नर बिगत-बिकारा,
श्रद्धा धरि फल - मोह बिहाई, अरजुन, सात्त्विक तप कहि जाई।
जो तप दंभ सहित करि जाई, जोरै कहुँ निज मान-बड़ाई,
जामहुँ नहिं निस्चय, न थिराई, अरजुन, राजस तप कहि जाई।
जो तप जड़ हठ तें करि जाई, तन, मन, बच कहँ कष्ट सहाई,
पर-पीड़न-अनहित चित लाई, अरजुन, तामस तप कहि जाई।

जो करतब्य समुझि देइ जाई, देस, काल, अधिकारी पाई
जामहुँ प्रत्युपकार अभावा, अरजुन, सात्त्विक दान कहावा
जो देइ जाइ कलेस उठाई, प्रतिफल पर मन दीठि लगाई
जामहुँ प्रत्युपकार समावा, अरजुन, राजस दान कहावा।
जो देइ जाइ बिना सनमाने, देस, काल अरु पात्र न छाने,
जा महुँ निहित अवग्या भावा, अरजुन, तामस दान कहावा।
ॐ तत सत - यह त्रिबिध सुनामा, आहि ब्रह्म कर, सुमति-सुधामा ;
आदि सृष्टि महुँ एक तेहि पाहीं, ब्राह्मन, बेद, जग्य रचि जाहीं।
तेहि तें बेद - बिग्य बिद्वाना सास्त्र-बिहित मख, तप अरु दाना
प्रारंभहिं कहि ॐ सदाहीं; एहि तें मंगलतर कछु नाहीं।
जे मुक्तिप्रिय आहिं, सुजाना, करहिं बहुत बिधि मख,तप, दाना,
'तत'कहि,'तत' कर सब कछु जानी, मेटि सकल फल-मोह निसानी।
'सत', सत-साधु भाव आधारा, सुभ करमन्ह महुँ जाइ उचारा।
जो थिति मख, तप, दान मझारी, सो 'सत' जग महुँ जाइ पुकारी।
'तत' हित जाइ जो कर्म सँवारा, अरजुन, सोउ सत जाइ पुकारा।

सोरठा

श्रद्धा बिनु करि जाय जग्य, दान, तप जो, असत;
होई न सो फलदाय, समुझु, धनुर्धर, एहुँ न ओहुँ।" ५८

●

अठारहवाँ अध्याय

दोहा

हरि कें बिमल बिचार सुनि, अरजुन, कुरु-कुल-राय,
बोलेउ प्रभु-पद-कमल महुँ पुनि-पुनि माथ नवाय।
"अगनित-भुज, सोइ चारि-भुज, द्विभुज सोइ, जदुराय,
भेद त्याग-संन्यास कर अब मोहि कहहु बुझाय।"
अरजुन-जिग्यासा परखि, बोलेउ श्री भगवान,
"मोर बचन, दुबिधा-हरन, संग्रह करु धरि ध्यान।

चौपाई

अरजुन, काम्य कर्म कर त्यागा, बुध बरनहिं संन्यास - बिरागा;
सर्ब कर्म - फल - मोह - अभावा, मतिमंतन्ह महँ त्याग कहावा।
कोउ सब कर्म सदोष बताई, कहइ रहै नर सबहिं बिहाई;
कुंति - सुवन, कोउ-कोउ बिद्वाना कहहिं तजिय नहिं मख, तप, दाना।
त्याग बिषयँ सुनु मोर बिचारा, त्यागहुँ जग महुँ तीनि प्रकारा।
त्यागै जोग न मख, तप, दाना; तीनिहुँ नर - करतब्य बखाना;
कुंति-सुवन, करि मख, तप, दाना, सोधहिं आपनि मति मतिवाना।
मख, तप, दान, अपर सुभ कर्मा, करै समुझि नर आपुन धर्मा,
राग-रहित, फल-मोह-अछूता; अस मत मोर सुनिस्चित, पूता।
जो नर - कर्म सहज निरधारा, हितकर नहिं तेहिकर परिहारा;
अस परिहार बिमोह - करावा, अरजुन, तामस त्याग कहावा।
जो, 'सब कर्म दुखद', अस धारा, तन-श्रम-डर सब काजु बिसारा,
राजस ताकर त्याग कहावा; त्याग फरा सो कबहुँ कि पावा ?

जो नर - कर्म, सहज - निरधारा, 'अस करतब्य', समुझि गा सारा;
जा महँ राग, न फल कर चावा, अरँजुन, सात्त्विक त्याग कहावा।

दोहा

जे हित, अनहित कर्म तें रागहिं, रोषहिं नाहिं,
ते सात्त्विक, संसय-रहित ग्यानी, त्यागी आहिं।

चौपाई

कबहुँ कि सर्ब कर्म परिहारा, सो करि सकेउ सरीर जो धारा ?
तेहि कारन कर्मज फल त्यागी, त्यागी जाइ कहाइ, बिरागी।
त्याग बिना जो काजु सँवारइ, भल, अनभल, मिश्रित फलु धारइ;
मुएहु मिटइ नहिं तासु प्रभाऊ; त्यागिहिं कर्म छुअइ नहिं काऊ।
सर्ब कर्म साधन महुँ, ताता, कारन पंच परम बिख्याता;
तिन्ह कहुँ सांख्य प्रथम अवगाहा, सोइ पुनि तोहिं कहहुँ, बड़बाँहा।
इन्ह पाँचन्ह महुँ प्रथम 'अधारा'; दूसर 'कर्ता' जाइ पुकारा;
तीसर जाइ 'करण' निरधारा, 'चेष्टा' चौथ, अनेक प्रकारा;
तेहि बिधि पंचम 'दैव' बखाना; बिलग-बिलग करु इन्हकर ग्याना।
सास्त्र-बिहित,-अबिहित कछु होऊ, तन, मन, बचन करै नर कोऊ,
सब करमन्ह महँ, सुनु, कपिकेतू, एई पाँच कहावहिं हेतू।
जब अस,तब निज बुद्धि बिकारा, कोउ केवल निज कहुँ करतारा
कहि कस दंभ करै जग माहीं ? देखत अस जड़ देखत नाहीं।
जो करतापन-भाव बिहीना, जाकरि बुद्धि न मोह-मलीना,
सो बधि सनमुख जन समुदाई, साँचेहु बधइ न पाप बँधाई।

दोहा

ग्येय, ग्यान, ग्याता त्रिबिध प्रेरहिं, कर्म कराहिं,
क्रिया, करण, कर्त्ता त्रिबिध संग्रहिं, कर्म सराहिं।

चौपाई

ग्यान, कर्म, कर्ता गुन छानी, बरनेउ त्रिबिध कपिल मुनि ग्यानी;
सोइ पुनि तोहिं कहहुँ बिलगाई, कुंति-सुवन, सुनु ध्यान लगाई।

जातें नर सब रूपन्ह माहीं, देखइ एकइ रूप सदाहीं,
अव्यय, अच्छय, थित समभावा, सो जग सात्त्विक ग्यान कहावा।
जातें नर सब रूपन्ह माहीं, देखइ बिबिध सरूप सदाहीं,
पृथक-पृथक गुन-कर्म-सुभावा, सो जग राजस ग्यान कहावा।
जातें एकहि रूप मझारी, देखइ सब किछु नर संसारी,
अल्प-अतत्त्व - अहेतु - अभावा, सो जग तामस ग्यान कहावा।
सास्त्र-बिहितबिधि जो करि जाई, दंभ - रहित, फल - मोह बिहाई,
जामहुँ राग न रोषु समावा, अरजुन, सात्त्विक कर्म कहावा।
जाइ बहुत श्रम सन जो साधा, रहइ सदा जो फल मन बाँधा,
जो पाखंड-दंभ दरसावा, अरजुन, राजस कर्म कहावा।
हिंसा-हानि अपर पर पेली, निज बल, कर्म-कुफल अवहेली,
जो करि जाइ कुबुद्धि प्रभावा, अरजुन, तामस कर्म कहावा।
राग बिहाइ, अहं बिसराई, धीरज धरि, उत्साह जगाई,
होइ जो कर्म-निरत जग माहीं, सिद्धि बनइ जेहि सुखप्रद नाहीं,
होइ असिद्धि न जेहि दुखदाई, कर्त्ता सात्त्विक सो कहि जाई।
राग - रँगाइ, लोभ लपटाई, जो कर्मज फल कहँ ललचाई,
हिंसा पर अति प्रीति बढ़ाई, चलइ जो पंथ असुचि अपनाई,
जो हरषइ, जो सोक समाई, सो कर्त्ता राजस कहि जाई। ६०
जो अस्थिर, अग्यान, प्रमादी, सठ, जड़-हठ-बस, व्यर्थ बिषादी,
अरजुन, जो करि कर्म अरंभा, पूजइ - तजइ न सालसदंभा,
अपर उजारि हृदयँ हरषाई, सो तामस कर्त्ता कहि जाई।

दोहा

बुद्धि तथा धृति तीनि बिधि, निज-निज गुन अनुहारि;
कुंति-सुवन, सोइ कहहुँ तोहि, बिलग-बिलग निरुआरि।

चौपाई

प्रबृति-निबृति पथ जाकर जाना, दुहुँ कर अंतर-गुन पहिचाना,
अभय-सभय दुहुँ जाकर जाँचा, कर्तव्याकर्तव्य बिबाचा,

बंध-मोच्छ जो कह अलगाई, अरजुन, सात्त्विक बुधि कहि जाई।
जाकें बल नर धर्म - अधर्मा, काजं - अकार्ज, सुकर्म - कुकर्मा,
कहि न सकइ बिधिवत बिलगाई, अरजुन, राजस बुधि कहि जाई।
जो तम कहुँ कहि जोति जतावइ, जो अधर्म कहुँ धर्म बतावइ,
अर्थं अनर्थ करइ उलिटाई, अरजुन, तामस बुधि कहि जाई।
जातें नर चित जोग जगाई, एक ब्रह्म महुँ जिअ सुथिराई,
सोधइ, मन - प्रानेन्द्रिय - कर्मा, अरजुन, सो धृति सात्त्विक धर्मा।
जातें नर कर्मज फल मागी, होइ सब करमन्ह प्रति अनुरागी,
साधइ धर्म, अर्थ अरु कामा, अरजुन, सो धृति राजसनामा।
जातें नर दुर्बुद्धि, प्रमादा, मद, चिंता, भय, नींद, बिषादा
ते नहिं पावइ पिंड छोराई, अरजुन, तामस धृति कहि जाई।

दोहा

कुंति-सुवन, अब तोहि कहहुँ, सुख मैं तीनि प्रकार,
बिलग-बिलग पहिचानि जेहि नर दुख सकइ निवार। ८०

चौपाई

जो अस अद्भुत, अस हितकामा, अँचवत गरल, अमिअ परिनामा,
ब्रह्मग्यान - प्रसाद जनावा, सो सुख सात्विक जाइ कहावा।
जो अस अदभुत, अनहित कामा, अँचवत अमिअ, गरल परिनामा,
बिपर्येंद्रिय संजोग जनावा, सो सुख राजस जाइ कहावा।
आत्म बिमोहइ जो सुख ओरे, आत्म प्रबंचइ जो सुख छोरे,
निद्रालस्य - प्रमाद जनावा, सो सुख तामस जाइ कहावा।
भूमि-नरन्ह,-दिवि-देवन्ह माहीं, कुंति-सुवन, सुनु कोउ अस नाहीं,
जो नहिं प्रकृति-जनित गुन बाँधा, जो नहिं सत, रज, तम रजु नाधा।
तेहि बिधि चारि बरन बिलगाए, निज-निज गुन अरु कर्म सुभाएँ।
अरजुन,सम, दम, तप, सुचिताई, छांति, बचन - मन - क्रम-सरलाई,
आस्तिक बुद्धि, ग्यान, बिग्याना, ब्राह्मन कर्म सुभायँ प्रमाना।
कौसल, धीरज, तेज, सुराई धारब, करब न रन कदराई,
स्वामि-सुभाव गहब, अरु दाना, छत्रिय कर्म सुभायँ प्रमाना।

कृषि,गौरच्छन, बनिज-बिधाना, वैस्य सुभावज कर्म प्रमाना।
सेवक-धर्म - निबाह, सुजाना, सूद्र सुकर्म सुभायँ प्रमाना।

दोहा

पावइ निज-निज कर्म-रत, नर संसिद्धि सुलाहु;
जेहि बिधि संभव होइ अस, अब सुनु सो, बड़बाहु।

चौपाई

जाकर सब अग-जग जनमावा, जो सब अग-जग माझ समावा,
ताहि स्वकर्म-निरत नित ध्याई, मानुष सकइ परम सिधि पाई।
दोषहु मय निज धर्म सुहावा, गुनहु भरा नहिं धर्म परावा,
करत सुभाव-नियत निज करमू, करत मनुज नहिं पाप, अधरमू।
सहज कर्म निज दोषिहु पाई, नर बिचरै नहिं ताहि बिहाई;
अरजुन, धूम तहाँ जहँ आगी, कर्म सदोष तहाँ जहँ रागी।
जाकहुँ ब्यापइ कतहुँ न रागा, जामहुँ मोह न केहुकर जागा,
जो निज तप-बल निज कहुँ जीती, थापइ निज महुँ ब्रह्म - प्रतीती,
सो सब करमन्ह तें उपराई, अरजुन, जाइ परम सिधि पाई।
कुंति-सुवन, साधक सिधि पाई, पावइ जेहि बिधि ब्रह्म - एकाई,
जातें अधिक न ग्यान उँचाई, संछेपहि तोहि कहहुँ बुझाई।
जाकरि बुद्धि बिसुद्ध तपाई, जो निवसइ सब संग बिहाई,
जो मित परिधानी, आहारी, जो तन - मन बच-संजम धारी,
अहमिति-बल-अभिमान-बिसारी, काम - क्रोध - परिग्रह - परिहारी,
जाकर सुस्थिर, अडिग बिरागा, जाकर ध्यान अहर्निसि लागा,
जो सात्त्विक धृति निज कहुँ साधी, तजि सब्दादिक पंच उपाधी,
ममता-मोह सबन्ह कर टारी, सांति अचंचल चित महुँ धारी,
रहइ राग - रिस द्वंद सिराई, पावइ सोइ नर ब्रह्म - एकाई।
जो ब्रह्मस्थ, प्रसन्न-सुभावा, जाहि न लोभ, न सोक सतावा,
जो सब महुँ सम भाव समावा, भक्ति परा सोइ, अरजुन, पावा।

दोहा

भक्ति परा सन जानई सो मम साँच स्वभाव,
जानइ जो मैं, कुंति-सुत, जो-जस मोर प्रभाव।
भक्ति परा सन तत्त्वतः सो मो कहुँ पहिचानि, १२०
अरजुन, मो महुँ अस मिलइ, बिलग परइ नहिं जानि।

चौपाई

पै, अरजुन, गहि मोर सहारा, नित्य करत जग करमहुँ सारा,
पावइ नर, लहि मोर पसाऊ, मम अज - अब्यय - अच्छय पाऊ।
तेहि कारन सम बुद्धि जगाई, मन कहुँ एक मोहि माझ लगाई,
मोहिं समर्पित करु सब कर्मा, मोहि नित चित रखु, रहु मम धर्मा।
मोहि चित रखि, लहि मोर पसाऊ, तोहि भव - ताप न ब्यापिहि काऊ;
जौं न सुनिहि मोहि अहं-हरासा, निःसंसय होइहि तव नासा।
जौं तैं, मन महुँ धरि अभिमाना, 'समर न करब, कहिहि, बलवाना,
तौ निस्चय नहिं तोर फुराई, प्रकृति कराइहि, तोहि बरिआई।
कुंति-सुवन, मन-मोह-नेवाजा, जौं तैं कहसि करिहि नहिं काजा,
सोउ, तैं मानु, अवसि असहावा, करिहि स्वभावज कर्म बँधावा।
ईस्वर जो मायहिं उकसाई, जीवन्ह कहुँ तन - जान चढ़ाई,
देस-काल आबर्त भ्रमावइ, आसन घट-घट माहिं जमावइ।
अरजुन, मन, बुधि, चित सब भाऊ, तासु चरन गहु; तासु पसाऊ
तैं पाइहि सुख-सांति अनंता, धाम परम, जेहि तरसहिं संता।

दोहा

ग्यान गुह्यतम, कुंति-सुत, कहेउँ तोहिं समुझाय;
अब तैं चिंतन-मनन करि, करु जस तोहिं सोहाय।

सोरठा

सर्ब गुह्यतम ग्यान, सहज बिसद बानी कहेउँ,
तोहिं परम प्रिय जानि, सार-सार पुनि कहहुँ तोहि।

चौपाई

मोहिं सुमिरु,चित महुँ मोहि धारी; मोहि भजु, मोहि रखि हृदय मझारी;
काय-बचन-मन करु मम पूजा; मोहिं नमन करु, समुझि अदूजा।
एहि बिधि तैं आइहि मोहि पाहीं; तैं पाइहि मोहि; संसय नाहीं।
कुंति-सुवन सब धर्म बिहाई, गहु मम एक सरन, मिरु नाई;
मैं तोहि, सब अघ-ओघ नसाई, दैहउँ मुकुति परम सुखदाई।
अरजुन, जे तप-भगति बिहीना, जे मम - निंदक, प्रकृति - मलीना,
जे एहि ग्यान न राखहि चाऊ, तिन्ह कहँ यह श्रुति कहिअ न काऊ।
जो नर मोहि महुँ भगति दृढ़ाई, गीता - ग्यान परम सुखदाई,
पार्थ, कहिहि मम भगतन्ह माहीं, आइहि निस्चय सो मोहि पाहीं।
पार्थ, मनुज-तन-धारिन्ह माहीं, तातें प्रिय - कर्मा मम नाहीं।
कुंति-सुवन सब संसृति माहीं, तातें मोर अधिक प्रिय नाहीं।
मोर-तोर संबाद पुनीता— धर्म-ग्यान-रसमय, जन गीता—
पढ़िहि, पढ़ाइहि गाइहि जोई, ग्यान - जग्य मोहि तोषिहि सोई।
श्रद्धा सहित, कुतर्क बिहाई, जो नर मात्र सुनिहि मन लाई,
अरजुन,सोउ बिमुक्त, बिसोका, पाइहि पुन्यसिलोकन्ह लोका।
मैं तोकहुँ जो ग्यान बखाना, पार्थ, सुना तैं का धरि ध्याना?
भागतभार, सुथिर तव प्राना? गा तव मोह-जनित अग्याना?"

दोहा

बासुदेव के बचन सुनि, कुरु - कुल -.कैरव - चंद,
अरजुन बोलेउ गत-अहं, गत-बिमोह, गत-द्वन्द,
"तव प्रसाद सुधि-बुधि लहेउँ, भएउँ सुथिर, भगवान;
करिहउँ, गत संदेह मैं, अब तव बचन प्रमान।"
बासुदेव अरु पार्थ महुँ भयउ जो सुचि संबाद,
पुलक प्रफुल्लित सुनेउँ मैं, बेदब्यास - प्रसाद।

छंद

श्री बेद ब्यास प्रसाद तें, यह गोप्य जोग परम गुना,
मैं जोगपति श्री कृष्न कहँ साच्छात स्वयं कहत सुना।

केसव - धनंजय मध्य यह संबाद सुभग, सुभावना,
मैं सुमिरि बारंबार बारहिं बार अति हरषितमना।
कुरु-भूप, सोइ हरि-रूप अदभुत सुमिरि पुनि-पुनि हिय धरौं,
निज दीठि पै बिसमय करौं, बपु बहुरि-बहुरि पुलक भरौं।
जहँ कृष्न जोगेस्वर, जहाँ धनु साजि अरजुन राजहीं,
तहँ रहइ श्री, बैभव, बिजय, ध्रुव नीति, मम संमति सही।

दोहा

जयतु गजानन लेखनी, जाकर बिदित प्रतापु,
कर खींचइ नहिं ताहि गहि, सोइ कर खींचइ आपु।
जयतु ब्यास ध्रुव-धर्म-स्वर, काल छुअत नहिं जाहि,
जुग-जुग बेधि जो आजु लौं गूँजत घट-घट माहिं।
जयतु अवध बानी बिसद, जामहुँ तुलसीदास,
रामचरित मानस बिरचि, जन-मन कीन्ह उजास।
चितइ मौनधर तप चरन, चलेउँ जो साँच सुभाय,
जन-गीता अनुहरै तहँ, रामायन जहँ जाय।

समाप्त